हिन्दू धर्म की विशेषताएं

सत्यदेव परिव्राजक



राजपाल एण्ड सन्ज़, कश्मीरी गेट, दिल्ली

'ओ३म्'

कौशलेश्वर कुमार आर्य
मोतीहारी
१२. ३. ६४



हिन्दू धर्म की विशेषताएं

[संशोधित संस्करण]

लेखक

स्वामी सत्यदेव परिव्राजक

"By constant and steady observations and experiences of millions of years, the ancient Rishis of Bharatvarsha evolved a system of thought, known as Hinduism today. It is not the chance-product of social and political upheavals like Christianity and Mohammedanism."

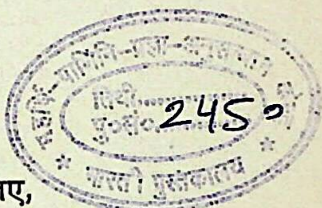
—DEVADOOTA





राजपाल एण्ड सन्ज़, कश्मीरी गेट, दिल्ली
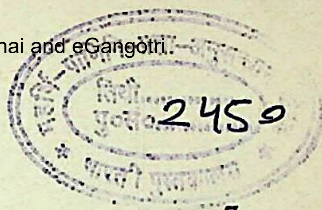
मूल्य : एक रुपया पचास पैसे ❖ उन्नीसवां संस्करण 1972 © राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली
HINDU DHARMA KI VISHESHTAEN (Religion), by Swami Satyadeva Parivrajak Rs. 1.50



सद्धर्म-सन्देश

सत्य की ही खोज करने के लिए,
आर्यों ने जंगलों में तप किया।
वर्ष लाखों खर्च इसमें कर दिए,
विश्व को निज अनुभवों से भर दिया।
नींव रक्खी अनुभवों पर धर्म की,
आत्म-दर्शन का सुधा-रस पान कर।
ज्ञान की बातें बताईं मर्म की,
कर्म की दैवी महत्ता जान कर।
'देव' ऐसे धर्म के सद्गुण बता,
हिन्दुओं की कायरी काफूर कर।
देश तो सब एकता है चाहता,
सम्प्रदायों की निशा को दूर कर।

○○○



विषय-सूची

विषय-प्रवेश

यह सन् 1938 के जनवरी मास की बात है। मैं आंखें ठीक करवाने के लिए जर्मनी गया था। डाक्टर से आंखें सुधरवाकर मैं बर्लिन चला आया और हालन्जे मुहल्ले की एक गली में कमरा किराये पर लेकर रहने लगा। खूब सर्दी पड़ रही थी। गलियां हिम से ढक जाती थीं। जब बर्फ पिघल जाती और आकाश निर्मल हो जाता तो फिर शीत का क्या कहना! बड़े-बड़े मोटे ओवरकोट पहनने पर भी तेज़ ठण्डी हवा के झोंके शरीर को कंपा देते थे। लेकिन अभ्यास बड़ी चीज़ है। ऐसे शीत में भी नीरोग और सुडौल जर्मन लड़के-लड़कियां पत्थर-सी जमी हुई झीलों पर नाचते-कूदते फिरते थे।

ऐसी ही एक सुबह को घर के मालिक मिस्टर कार्ल ने मेरे कमरे में आकर कहा, "क्यों देवा, क्या तुमने यहां की मस्जिद देखी है?"

बर्लिन में मस्जिद! मेरे कान खड़े हो गए और मैंने आश्चर्य से कार्ल की ओर देखा। तब तत्काल स्मरण हो आया कि सन् 1913 में जब मैं जर्मनी में आया था तब यहां बर्लिन में मस्जिद बनवाने की योजना भारतीय मुसलमान कर रहे थे। मैंने कार्ल से पूछा, "क्या वह मस्जिद बन गई?"

कार्ल ने हंसकर कहा, "उसे बने शायद छः महीने हो गए हैं, चलो, मैं तुम्हें आज दिखला लाऊं।"

हम दोनों जने वेस्टफालिया गली से निकले और सुन्दर-साफ सड़कों पर घूमते-घूमते आखिर मस्जिद के पास पहुंच गए। वहां सन्नाटा था। चारों तरफ साफ-सुथरे मकान बने हुए थे—नये, बिलकुल नये। बर्लिन का यह हिस्सा नया ही आबाद हुआ था। वैज्ञानिक ढंग से गलियों, सड़कों

और बाज़ारों की नींव डाली गई थी। प्रत्येक मकान का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व था, जिसके इर्द-गिर्द फूलों और फलों के लिए भूमि छोड़ी हुई थी।

मस्जिद में कोई नहीं था। वह मानो अकेली खड़ी ठण्ड से ठिठुर रही हो। बनानेवालों को तो अपने नाम को प्रख्यात करने से गर्ज़ थी, उसमें चाहें कोई नमाज़ पढ़े, चाहे न पढ़े। मैंने कार्ल से कहा, "क्या इस मस्जिद का कोई इमाम नहीं है ?"

कार्ल ने इधर-उधर देखकर साथ लगे हुए एक घर की तरफ इशारा करके उत्तर दिया, "उसी घर में एक मियांजी रहते हैं। चलिए, उनसे बातें करें।"

हम लोगों ने उस घर के दरवाज़े पर जाकर घंटी बजा दी। दरवाज़ा खुला और आगन्तुक ने हम दोनों को अन्दर कुर्सियों पर बिठलाया। जिस सज्जन ने दरवाज़ा खोला था, वही इमाम थे और उनके पास एक तातारी मुसलमान बैठा था। कमरे में अंगीठी जल रही थी, सो हम लोग आराम से बैठ गए और लगीं बातें होने। जब कार्ल ने मेरा परिचय मियां साहब से करवाया तो वे प्रसन्न होकर बोले, "अच्छा, तो आप हिन्दुस्तान से आए हैं। क्या आप हिन्दू हैं ?"

मैंने सिर हिलाकर 'जी हां' में जवाब दे दिया। तब इमाम साहब ने हैरानी के लहजे में मुझसे कहा, "हिन्दू धर्म क्या है ? यह बात आज तक मेरी समझ में नहीं आई। ईसाइयों का मज़हब समझ में आता है, पारसी और यहूदियों का भी; लेकिन यह हिन्दू मज़हब क्या है, इसे मैं अभी तक समझ नहीं सका। हिन्दू मज़हब का न कोई सिर है न पैर, न इसकी कोई किताब है और न कोई पैगम्बर—सब गपड़चौथ है। आप ऐसे मज़हब को कैसे मान रहे हैं ?"

मैं ऐसे प्रश्नों के लिए तैयार नहीं था। मैं आया था कार्ल के साथ घूमने, सैर-सपाटे के लिए। यहां आते ही जब इस प्रकार के गोले चले तो मेरे मस्तिष्क में बिजली दौड़ गई और मैंने बड़े गौर से प्रश्नकर्ता की ओर देखा। मज़हब के जोश का यह एकांगीपन, जो व्यक्ति को बावला-

सा बना देता है, उस चेहरे पर साफ प्रकट हो रहा था। मियांजी के लहजे ने मुझे बतला दिया कि वे पंजाब के निवासी थे; और पंजाबी मज़हबी दीवानेपन के लिए सारे भारत में विख्यात है। मैंने बड़ी गम्भीरता से उत्तर दिया, "आपकी समझ में हिन्दू मज़हब नहीं आ सकता, क्योंकि आपने चीज़ों का एक पहलू ही देखना सीखा है। जिस मनुष्य ने भांति-भांति के पदार्थ नहीं देखे, जिसमें निरीक्षण करने की शक्ति नहीं है, जिसने अपनी बुद्धि को दूसरों के हवाले कर दिया है और जो चीज़ों का मुकाबला करना नहीं जानता, वह हिन्दू धर्म को कैसे समझ सकता है?"

इमाम साहब हैरानी में डूब गए और बोले, "जनाब, यह आपने क्या कहा, मेरी समझ में कुछ नहीं आया। ज़रा खोलकर समझाइएगा।"

मियांजी के अज्ञान-भरे प्रश्नों से मेरे अन्तस्तल में ठेस लगी थी। ऐसे हज़ारों मनुष्य इस संसार में हैं जो किसी विषय का कुछ भी नहीं जानते, लेकिन जानने का दम भरते हैं और बातें ऐसी करते हैं मानो उन जैसा कोई वाकिफदार ही नहीं। ऐसे मनुष्यों द्वारा कैसी गलतफ़हमी समाज में फैलती है और कैसा अज्ञान उनके श्रोताओं को घेरता है! इस मनुष्य ने हिन्दू धर्म के विषय में कभी भी पक्षपातरहित होकर विचार नहीं किया, कभी विवेकपूर्ण दृष्टि से उसके सिद्धान्तों पर विवेचना नहीं की; और इसने सदा अपने मज़हब के सामने दूसरे धर्मों को हेय समझा है, ऐसा मनुष्य मेरे सामने बैठकर हिन्दू धर्म को गपड़चौथ बतलाए!

अपने आन्तरिक दुःख को रोककर मैंने जवाब दिया, "मेरे प्यारे, जिस मनुष्य ने सारी आयु में एक ही महापुरुष के जीवन का तमाशा देखा हो और उसे ही सब कुछ समझा हो, जिस मनुष्य ने एक ही किताब को सच्चा मानकर सारी उमर उसीके इर्द-गिर्द चक्कर काटे हों, वह कूप-मण्डूक भला विश्व के तमाशे को कैसे समझ सकता है? और उसके मस्तिष्क में श्रेष्ठतम महापुरुषों के गुणों का समावेश कैसे हो सकता है?"

मैंने देखा कि वे दोनों मुस्लिम श्रोता मेरी ओर विस्मित होकर देख रहे थे। मैंने फिर कहना प्रारम्भ किया, "मेरे भाई, यदि मैं इस्लाम में से हज़रत मुहम्मद साहब को निकाल दूं, तो इस्लाम की इमारत लड़खड़ाकर गिर पड़ेगी। इसी प्रकार यदि कोई यह कह दे कि हज़रत ईसा मसीह नाम का कोई व्यक्ति संसार में हुआ हो नहीं, तो ईसाई मज़हब का सारा इतिहास मिट्टी में मिल जाता है। पर इसके विपरीत यदि कोई यह कह दे कि मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र और भगवान् कृष्णचन्द्र नाम के कोई महापुरुष दुनिया में नहीं हुए, तो हिन्दू धर्म का बाल भी बांका नहीं हो सकता, क्योंकि हिन्दू धर्म किसी महापुरुष की जीवनी, किसी अवतार के चमत्कार और किसी पैगम्बर के इल्हाम पर खड़ा नहीं किया गया। हिन्दू धर्म तो विश्व के विकास की वस्तु है, और यह मानवी उत्थान का इतिहास है। जिन आर्यों ने हिन्दू धर्म की बुनियाद डाली थी, वे प्राकृतिक सौन्दर्य के उपासक थे। उन्होंने अपने इर्द-गिर्द ईश्वर द्वारा रचे हुए दिव्य संसार का अध्ययन करना प्रारम्भ किया। वे ज्ञानमार्गी थे, इसलिए उनमें धर्मान्धता अर्थात् पक्षपात का लेश नहीं था, इसीलिए उन्होंने विभिन्न प्रकार की वस्तुओं, मनुष्यों और पशुओं का निरीक्षण करना प्रारम्भ किया। उन्होंने जान लिया कि ज्ञान की प्राप्ति विभिन्नता से होती है, और विभिन्नता ईश्वरीय चमत्कार था। इसलिए ईश्वर के प्यारे अपने से भिन्न मत रखने वाले विद्वानों को आदर की दृष्टि से देखने लगे। उन्होंने समाज की शान्ति के मुख्य स्तम्भ 'सहनशीलता' का प्रचार किया और यह सिखलाया कि प्रत्येक मनुष्य और स्त्री को अपनी ईश्वरदत्त शक्तियों को विकसित करने का अधिकार है। यह संसार सबके लिए है और इसके पदार्थों का भोग न्यायपूर्वक करना चाहिए। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए उन्होंने सादा जीवन अर्थात् आवश्यकताओं की कमी के पवित्र सिद्धान्त को अपनी संस्कृति का ब्रह्मास्त्र बनाया। उन्होंने कहा कि रोटी में सबका अधिकार है। धन जमा करने की वस्तु नहीं, उसका उद्देश्य समाज-सेवा है। जो विद्वान् धन का तिरस्कार कर त्याग का

जीवन व्यतीत करता है। और अपना सारा समय अपने देश की सेवा में लगाता है, वही सच्चा ब्राह्मण है, वही पूजा के योग्य है।"

मेरे मित्र कार्ल ने चलने का अनुरोध किया, परन्तु वे दोनों श्रोता मुझे रोककर बोले, "ज़रा और ठहरिए। हमें अभी तक हिन्दू धर्म की विशेषताएं साफ तौर से मालूम नहीं हुईं। आप हमें यह बतलाएं कि कौन-कौन-से गुण हिन्दू धर्म को दूसरे मज़हबों से अलग करते हैं? आपकी बात-चीत का हमपर बड़ा असर हुआ है, लेकिन अभी तक हम असली चीज़ को पकड़ नहीं पाए।"

इसपर कार्ल ने अनुरोधपूर्वक कहा, "आज इतना ही काफी है। मि० देवा ने आप लोगों को सोचने की काफी सामग्री दे दी है। फिर किसी दिन जब हम आएंगे तो बाकी बातें होंगी।"

उपर्युक्त घटना को हुए कई वर्ष बीत गए। मैंने भारत में अपना आश्रम बनाने का विचार किया। निश्चय यह किया कि लाहौर में बैठकर 'सुकरात संस्कृत पाठशाला' नाम की एक पाठशाला खोली जाए, जहां पर यूनानी संस्कृति के गुणों का अध्ययन विद्यार्थियों को कराया जाए। इसी इरादे से मैं लाहौर में आकर बैठ गया। लाहौर पंजाब की राजधानी होने के कारण विद्या का केन्द्र था। मैंने सोचा कि यहां पर उदार विचार-वाले लोग मुझे मिल जाएंगे और मैं आनन्द से अपना प्रचार-कार्य प्रारम्भ कर दूंगा। मकान किराये पर लेकर काम का श्रीगणेश कर दिया और आठ-दस विद्यार्थी भी आने लगे, कुछ महीनों तक पाठशाला चलती रही। इसी बीच में मैं बेतुल की ओर आर्य-धर्म के प्रचारार्थ गया। लौटती बार इटारसी जंकशन से लाहौर तक का सैकण्ड क्लास का टिकट लेकर मैं डिब्बे में बैठ गया। गाड़ी चल पड़ी। मेरे डिब्बे में एक पंजाबी सज्जन अपनी स्त्री के साथ थे, जो उसी दिन यूरोप की सैर से लौटकर अपने घर वापस जा रहे थे। इटारसी से दिल्ली तक हमारी कुछ भी आपस में बात-चीत नहीं हुई। जब गाड़ी दिल्ली पहुंची तो एक स्त्री इन दोनों से मिलने के लिए आई। मैं ऊपर की सीट पर था और वे दोनों नीचे बर्थ पर।

ग्रचानक उस आगन्तुक स्त्री ने ऊपर की ग्रोर निगाह उठाई। मुझे देखकर वह कुछ विस्मित-सी हुई ग्रौर ग्रत्यन्त धीरे से उस पंजाबी महिला से बोली, "क्या तुम इस संन्यासी को जानती हो?" उसके 'न' कह देने पर उस स्त्री ने उनसे कहा, "तुम लोगों ने ग्रपना सारा समय खो दिया। यह तो दुनिया घूमा हुग्रा संन्यासी है। तुम दोनों ने तो पहली बार ही यूरोप-यात्रा की है, पर स्वामीजी तो न जाने कितनी बार यूरोप हो ग्राए हैं।"

वे दोनों स्त्री-पुरुष ग्राश्चर्य से मेरी ग्रोर देखने लगे। तब उस स्त्री ने मेरे साथ बातचीत की। मैंने उसे ग्राज बीसों वर्षों के बाद देखा था। उसमें बड़ा परिवर्तन हो गया था। गाड़ी के चलने के समय उस स्त्री के पतिदेव ने इस पंजाबी सज्जन को कहा, "स्वामीजी की रास्ते-भर सेवा करना।"

गाड़ी वेग से जा रही थी। ग्रब हम लोग खुलकर बातें करने लगे। उस पंजाबी यात्री ने ग्रादर-भरे लहजे में मुझसे कहा :

"स्वामीजी, मैं यूरोप से लौट रहा हूं। यूरोप-यात्रा से मेरी ग्रांखें खुल गई हैं। महाद्वीप यूरोप में यात्रा करते समय जब लोग मुझसे पूछते थे, 'हिन्दू धर्म क्या है?' तो मैं उत्तर नहीं दे सकता था ग्रौर शर्म से पानी-पानी हो जाता था। स्वामीजी, ग्राप हम लोगों का बड़ा उपकार करें, यदि कोई ऐसी पुस्तक लिखें जिसमें हिन्दू धर्म की विशेषताग्रों का सीधा वर्णन हो—बिल्कुल स्पष्ट।"

उसकी बात सुनकर मुझे बर्लिन की मस्जिदवाली घटना याद ग्रा गई ग्रौर मैं सोचने लगा, 'उस रोज़ कार्ल के साथ बर्लिन में जब मस्जिद देखने गए थे तो उस मियांजी ने भी यही प्रश्न किया था। वह था मुसलमान, ग्रौर यह प्रश्नकर्ता है हिन्दू। मुसलमानों को तो उनकी हिन्दू धर्म के प्रति ग्रज्ञानता पर क्षमा किया जा सकता है, पर ये पढ़े-लिखे हिन्दू भी ग्रपने धर्म को नहीं जानते, इससे बढ़कर दुःख ग्रौर संताप की बात ग्रौर क्या हो सकती है! हमारा ऐसा सुन्दर धर्म, उसकी ऐसी वैज्ञानिक विशेषताएं ग्रौर उसकी ऐसी श्रेष्ठतम संस्कृति, ग्राज उसे भी हमारे बच्चे नहीं जानते—यह

कितने शोक की बात है !' मेरा हृदय विचलित हो उठा और मैंने वहीं पर प्रतिज्ञा की कि जब मेरा आश्रम बन जाएगा तो पहला ट्रैक्ट इसी विषय पर लिखूंगा और वह भी ऐसा कि प्रत्येक हिन्दू गृहस्थ अपने बच्चों को नम्बरवार उन विशेषताओं को कण्ठ करा सके।

लाहौर में तो कार्य न हो सका। अब जब ईश्वर की कृपा से 'गुरुकुल संस्कृत पाठशाला' को ज्वालापुर में अपनी भूमि प्राप्त हुई और वहां 'सत्य-ज्ञान-निकेतन' की स्थापना की गई तो सचमुच मेरा आश्रम खड़ा हो गया और मुझे अपनी प्रतिज्ञा को पूरा करने का अवसर मिला। बर्लिन में मैंने अपने मुसलमान भाई उस इमाम को हिन्दू धर्म की विशेषताएं सिलसिलेवार नहीं बतलाई थीं; उस पंजाबी सज्जन को मैंने यही कह दिया था कि मैं बहुत जल्द इस अभाव की पूर्ति कर दूंगा; एक छोटी-सी पुस्तिका में हिन्दू धर्म की विशेषताओं को इस ढंग से लिखूंगा कि प्रत्येक जिज्ञासु उसे आसानी से समझ सके। आज वह समय उपस्थित हुआ और मैं अपने प्यारे हिन्दू धर्म की विशेषताएं लिखने लगा हूं।

हिन्दू धर्म आशावादी है, निराशावादी नहीं

मैं एक बार प्रयाग से आगरा जा रहा था। अप्रैल का महीना था। गर्मी पड़ने लगी थी। मैं सुबह की गाड़ी में जा बैठा। मेरे डिब्बे में कई यात्री थे—हिन्दू-मुसलमान दोनों। सामान रखकर मैं खिड़की के पास बैठ गया और लगा इधर-उधर की चीज़ों का निरीक्षण करने। गाड़ी जा रही थी और मैं खिड़की से बाहर की ओर देख रहा था। मेरे कान में ये शब्द पड़े :

"सचमुच इस्माइल, मैं बड़ा गुनहगार हूं। मेरे गुनाहों का कफारा नहीं हो सकता। मरने के बाद न जाने क्या हालत होगी? कयामत के दिन मुझे जाने कहां फेंक दिया जाएगा ?

मुझे कुछ अध्ययन की सामग्री मिल गई और मैं आहिस्ता से चौकन्ना होकर बैठ गया। बोलने वाले की पीठ मेरी तरफ थी और वह अपने साथी इस्माइल से धीरे-धीरे बातें कर रहा था। दोनों ही अधेड़ उमर के मनुष्य थे। अपने साथी की बात सुनकर इस्माइल बोला :

"तुमने तो एक ही बेगुनाह को सताया है, इसीपर घबरा रहे हो—और मैंने तो, उफ ! न जाने कितने बेगुनाहों के गले काटे हैं। अफसोस, मुझे नई ज़िन्दगी नहीं मिल सकती, नहीं तो मैं अपने गुनाहों को धो डालता। अब रसूले-करीम रहम करें !"

ठण्डी सांस भरकर उसका साथी कहने लगा, 'हम लोगों का

उसीपर सहारा है। तोबा करेंगे, गिड़गिड़ाएंगे और हाथ जोड़ेंगे— देखिए कयामत के दिन क्या होता है !"

मेरे लिए काफी मसाला मिल गया। मैंने विचार किया, कितना फ़र्क है हिन्दू धर्म और इस्लाम में ! हिन्दू धर्म आशा से भरा हुआ है और इस्लाम निराशा की गहरी खाई है, जहां गिरा हुआ मनुष्य अंधेरे में टटोलता फिरता है। स्कूल में जब कोई लड़का किसी परीक्षा में फेल हो जाता है, अथवा खेल में गिर पड़ता है, तो मास्टर महोदय लड़के को उत्साह दिलाते हुए कहते हैं :

"Try again, try again
If at first you don't succeed.
Try again, try again."

इन शब्दों में कैसा जादू है, क्योंकि लड़के को यह बात जानकर कि उसे फिर भी यत्न करने का अवसर मिल सकता है, कितना हर्ष होता है, और बड़े जोश से दुबारा, तिबारा उद्यम करता है। अंत में विजय उसे मिल ही जाती है। हिन्दू धर्म का रहस्य 'फिर यत्न करो !' 'फिर यत्न करो ! !' इस मन्त्र की दीक्षा देता है। वह अपने अनुयायी को कहता है, 'तुझे फिर नया जन्म मिलेगा, हिम्मत मत हार !' वह नया जन्म कितना स्पष्ट और कितना प्रत्यक्ष है, इसमें कोई सन्देह हो ही नहीं सकता। आर्य लोग प्रकृति के उपासक थे। उन्होंने निरीक्षण में सीखा कि प्रकृति माता प्रत्येक पत्ते, कलिका, लतिका, फूल और फल को नया जन्म देती है; फिर भला मानव-शरीर उस अनादि नियम से कैसे वञ्चित रह सकता है ? कब्रों में गड़ा हुआ क्यों वह वहीं बैठा रहेगा, कौन कयामत का इन्तज़ार करेगा ? कैसी अज्ञानता से भरा हुआ सिद्धान्त है यह, और इसके मानने वाले करोड़ों हैं, इस भू-मण्डल

पर! उनमें भी बहुत-से उच्च शिक्षा पाए हुए! सचमुच हिन्दू धर्म दिव्य आशा का धर्म है। उस रोज़ रेल में बैठा हुआ मैं घण्टों यही सोचता रहा कि बेचारे मुसलमान कैसी निराशा के गढ़े में गिरे पड़े हैं, तभी तो उनमें कोई ज़बर्दस्त सुधारक, पवित्र जीवन का प्रचार करने वाला पैदा नहीं होता। पैदा हो भी कैसे, जब सब गुनहगारों को शिकायत की उम्मीद दिलाई जाती है! कैसा ही बदइखलाक, कैसा ही बदचलन, कैसा ही गुनहगार स्त्री या पुरुष होगा, पैगम्बर उसे गुनाहों से छुड़ा देगा। एक मुसलमान की ज़िन्दगी की नौका की यही पतवार है। इसीलिए वह खुदा से अधिक अपने रसूल की परवाह करता है। इस सिद्धान्त ने संसार को भारी हानि पहुंचाई है। इसके विपरीत एक हिन्दू बुराई से डरता है, और अगर बुराई हो जाती है तो वह जानता है कि उसके अच्छे कर्म ही उस बुराई को धो सकते हैं। उसकी कोई शिकायत करने वाला नहीं। उसे जन्म मिलेगा, फिर जन्म मिलेगा, यत्न करने का फिर अवसर मिलेगा इस कारण वह अत्यन्त कृतज्ञतापूर्ण हृदय से उस प्रभु को धन्यवाद देता है जिसने कि उसे ऐसे सुन्दर सिद्धान्त सिखलाने वाले धर्म में उत्पन्न किया है। यही कारण है कि हिन्दुओं में जीवन की पवित्रता सिखलाने वाले ऊंचे दर्जे के सुधारक पैदा हुए हैं और होते रहेंगे।

अच्छा, तो फिर ईसाइयों में सच्चरित्रता की ऐसी लहर कैसे चल निकली? ये भी तो मुसलमानों की तरह एक जन्म, कयामत का दिन और गुनाह मुआफ करने वाला मसीहा मानते हैं। बात असल में यह है कि ईसाई धर्म को चौदहवीं शताब्दी में यूनानी संस्कृति का सहारा मिल गया। यूरोप के विश्वविद्यालयों में यूनानी संस्कृति ने बड़ा ऊंचा स्थान पाया। उसकी बदौलत यूरोप के लोगों में पुरुषार्थ और पवित्र जीवन को बड़ा अच्छा स्थान मिल गया। दूसरी बात यह हुई कि हज़रत ईसा मसीह ने सारा जीवन

ब्रह्मचर्य में बिताया। उन्होंने जिन सिद्धान्तों का प्रचार किया, उनका हिन्दू धर्म के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह बात भी अभी विवादग्रस्त है कि हज़रत ईसा मसीह अपने यौवन काल में किसी बौद्ध मठ में विद्यार्थी बनकर रहे थे या नहीं? कुछ भी हो, साइन्स के प्रभाव से मज़हब का रूप विकास की ओर चल पड़ा है। इसी कारण ईसाई मज़हब मानने वाले कई एक ऊँचे दर्जे के सुधारकों ने यूरोप में जन्म लिया। ईसा के पवित्र जीवन का प्रभाव ईसाई दुनिया पर पड़ना ही था। जब उस जीवन को त्याग और बलिदान का आदर्श मिल गया, तो फिर सच्चे सेवकों की कमी कहां हो सकती थी! लेकिन यह बात ध्रुव सत्य है कि एक जन्म और कयामत के सिद्धान्त ने ईसाई मज़हब को घुन लगा दिया है। उच्चतम बलिदान करने के बाद भी ईसा का भक्त प्रभु ईसा मसीह की दया का भिखारी बना रहता है। उसे अपने भविष्य का निश्चय नहीं होता। यदि यूरोप के लोगों को हिन्दू धर्म के ये सिद्धान्त मिल जाते तो वे निश्चय ही संसार को स्वर्ग बना देते।

इसीलिए हिन्दू धर्म के प्रत्येक अनुयायी को अपने श्रेष्ठतम धर्म का गौरव होना चाहिए। उसका धर्म वैज्ञानिक है और वह आशा से परिपूर्ण है। यदि हम इस जन्म में कोई काम न कर सकें तो हमारे लिए दूसरा जन्म खुला हुआ है। दूसरे में उसे खत्म न कर सकें तो तीसरा जन्म तैयार है। निराशा के लिए रत्ती-भर भी गुंजाइश नहीं।

हिन्दू धर्म की दूसरी विशेषता

हिन्दू धर्म ज्ञानवादी है, अन्धभक्तिवादी नहीं

एक वार कांग्रेस के दफ़्तर में पांच-चार मित्र वैठे वातें कर रहे थे। इनमें दो मुसलमान थे और तीन हिन्दू। चपरासी दैनिक 'लीडर' लेकर आया। उसमें वड़ी खवर हिन्दू-मुसलमानों के दंगे की थी। दंगा हुआ था मस्जिद के सामने वाजा वजाने के कारण। उस खवर ने इन पांचों मित्रों की विचारधारा में गड़वड़ पैदा कर दी। एक हिन्दू सज्जन बोले, "यह वात मेरी समझ में नहीं आती कि वाजा बजाने से मुसलमानों का खुदा क्यों नाराज़ हो जाता है?"

एक मुसलमान भाई ने जवाव दिया, "हिन्दू लोग भी वड़े ज़िद्दी होते हैं, अगर नमाज़ के वक्त बाजा न वजाया करें तो भला इनका कुछ हर्ज है?"

वाजे के प्रश्न नें सचमुच हिन्दू-मुसलमानों में दो कैम्प कर दिए थे और आए दिन ये झगड़े होते रहते थे। क्या कारण है कि मुसलमानों के नेता—बड़े-बड़े मौलवी—वाजे के विषय पर अपनी सम्मति देकर इस झगड़े को सदा के लिए नहीं मिटा देते? यह प्रश्न वहुत-से समझदार हिन्दुओं के दिलों में उठता है। हिन्दुओं से यदि कोई ऐसी बात हो जाए तो उनके नेता फौरन उन्हें समझा-बुझाकर रास्ते पर ले आते हैं, मगर मुसलमान अपनी ज़िद नहीं छोड़ते। इसका कारण क्या है?

वात असल में यह है कि ईश्वर के विषय में हिन्दू धर्म के सिवाय दूसरे किसी मज़हव में ऐसी सुन्दर, वैज्ञानिक विवेचना नहीं है। हिन्दू धर्म ईश्वर से साक्षात्कार का सीधा-सच्चा वैज्ञानिक ढंग वतलाता है। दूसरे मज़हव वाले ईश्वर की प्रार्थना पर ज़ोर

देते हैं, इसीलिए मुसलमान नमाज़ के समय किसी प्रकार का शोर-गुल सुनना नहीं चाहते। उनके लिए यह प्रार्थना ही सब कुछ है। वे इसके आगे ईश्वर के विषय में कुछ नहीं जानते। यदि उन्हें यह मालूम होता कि ईश्वर का दर्शन योग अर्थात् मन को एकाग्र किए बिना नहीं हो सकता तो वे योग-सिद्धि का यत्न करते और किसी प्रकार का बाजा उनकी किसी प्रार्थना में बाधा न डालता। उन्होंने ईश्वर को समझा ही नहीं। उसे वे एक आदमी की तरह मानते हैं, जिसके सामने हाथ जोड़कर, सिज़दा करके प्रार्थना की जाती है। हिन्दू धर्म की बड़ी भारी विशेषता इस बात में है कि वह ईश्वर की प्राप्ति मन के एकाग्र करने में मानता है और उसके दर्शन करने का रास्ता बतलाता है। ईसाई और इस्लाम धर्म ईश्वर के विषय में शब्दाडम्बर तो बहुत कर लेते हैं, पर इसके पहचानने का तरीका उनके पास कोई नहीं है। होता भी कैसे? इनके मज़हब की भित्ति ईश्वर के गुणों को जानने, उसका साक्षात्कार करने में नहीं है; वे तो केवल उसको खुश करने में ही अपने उद्योग की इतिश्री मानते हैं।

हिन्दू धर्म की यह बड़ी भारी विशेषता है कि वह जगत् के रचने वाले से मिलने का रास्ता बतलाता है। पतंजलि ऋषि ने अपना 'योगदर्शन' लिखकर संसार के ज्ञान-भण्डार को अतुल संपत्ति दे दी है। आप आसन लगाकर प्राणायाम करें; नीचे बाज़ार में चाहे कैसे ही बाजे बजें, आपकी तारीफ तभी है कि जब आप उस शोर से ऊंचे उठकर अपने मन को प्रभु की ओर लगा सकें। हिन्दू योग करते समय, यदि बाजा सुनकर अपनी एकाग्रता खो बैठेगा तो वह बाजा बजाने वाले को दोष न देकर अपने-आपको दोषी ठहराएगा और अपनी निर्बलता को दूर करने के लिए अधिक साधना करेगा।

मैं हिन्दू धर्म पर इसलिए मोहित हूं कि उसने मुझे ईश्वर का

सच्चा स्वरूप वतलाया है और उसकी प्राप्ति का रास्ता भी ठीक-ठीक बतला दिया है। इस पथ पर चलने वाले का कभी किसीसे झगड़ा नहीं हो सकता। लोग किसी मकान में ईश्वर की पूजा करने के लिए इकट्ठे हों और ज़रा-सा वाजा सुनकर वाजे वालों पर पत्थर फेंकने लगें तो भला ऐसे लोगों को कोई खुदापरस्त कह सकता है? वे सिर्फ खुदापरस्ती का ढोंग करते हैं, जो ज़रा-से वाजे वजने पर आपे से वाहर हो जाते हैं। भला ऐसे लोगों की समझ में हिन्दू धर्म आ सकता है? कदापि नहीं। हिन्दू धर्म को समझने के लिए सूक्ष्मदर्शी मस्तिष्क चाहिए, मोटी बुद्धि वाले लोगों की समझ में उसका आना कठिन है।

यही कारण है कि यूरोप के ईसाई मिशनरी अपने देशवासियों को खुदापरस्ती समझाने में असमर्थ हैं। वे अफ्रीका, चीन और हिन्दुस्तान में मज़हव फैलाने के लिए भागे जाते हैं, किन्तु उनके अपने देश में उनकी वात कोई नहीं सुनता। ईसाई मिशनरियों से तंग आए हुए वे यूरोपीय नर-नारी हिन्दू धर्म की शरण में भागे आते हैं। आज यूरोप और अमरीका में योग की बड़ी चर्चा है। यदि कहीं हिन्दुओं के पास ईसाइयों जैसी प्रभुता होती, तो वे पतंजलि के योग दर्शन द्वारा सारे संसार में शान्ति फैला देते। हिन्दू धर्म की इस विशेषता को संसार धीरे-धीरे अनुभव करेगा। हिन्दू नर-नारियों को योग-साधन की ओर अपनी शक्ति लगानी चाहिए, तभी उन्हें अपने धर्म का चमत्कार दिखाई देगा।

मानव-जीवन क्या है? यदि संसार में उत्पन्न होकर परमात्मा के विषय में कुछ नहीं जाना तो जन्म निरर्थक हो गया। दुनिया के सभी विद्वान इस मत से सहमत हैं कि मनुष्य-जीवन का ध्येय ईश्वर की प्राप्ति है। है कोई ऐसा मज़हब जो उसकी प्राप्ति का मार्ग वतलाए? समाज की सेवा ईसाई धर्म बतलाता है; अंधे, लूले, लंगड़ों की खिदमत करना बतलाता है, गरीबों को दान देना

बतलाता है, यह सब कुछ है, किन्तु ईश्वर-प्राप्ति के विषय में कुछ नहीं बतलाता। महर्षि पतंजलि ने यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—ये अष्टांग योग की सीढ़ियां बतलाकर मनुष्य का महान् उपकार किया है। यदि हिन्दू धर्म में और कोई विशेषता न होती तो केवल इसी विशेषता के कारण दूसरे मज़हबों को पीछे फेंक सकता था। पर वह तो गुणों का आगार है।

हिन्दू धर्म की तीसरी विशेषता

हिन्दू धर्म विकासवादी है, सम्प्रदायवादी नहीं

उस सुबह को बर्लिन में जब मेरी बातें इमाम साहब से हुई थीं तो मुख्य दोष जो हिन्दू धर्म में उन्हें मालूम होता था, और जो प्रायः विरोधियों को हिन्दू धर्म की बड़ी त्रुटि मालूम होती है, वह है हिन्दू धर्म की उदारता और विशालता। विरोधी कहते हैं कि हिन्दू धर्म एक तमाशा है। क्यों? वे कहते हैं कि जो ईश्वर को नहीं मानता, वह भी हिन्दू है; जो मूर्तिपूजा करता है, वह भी हिन्दू है; जो मूर्तिपूजा नहीं करता वह भी हिन्दू है; जो पीपल की पूजा करता है, वह भी हिन्दू है; जो हाथी के सूंड़वाले गणेश को पूजता है, वह भी हिन्दू है—उनका एतराज़ यह है कि हिन्दू धर्म में सब खिचड़ी है, इसका कोई निश्चित सिद्धान्त नहीं है; सब विचार के लोग हिन्दू धर्म में खप सकते हैं। यही सबसे बड़ा दोष हिन्दू धर्म के विरोधी इसपर लगाते हैं। चूंकि ईसाई और मुसलमान मज़हब से बंधे हुए सिद्धान्त मानते हैं, उनमें लचीलापन

नहीं है, इस कारण उन्हें हिन्दू धर्म की यह उत्कृष्ट विशेषता बड़ी अखरती है, वे इस विशेषता को हिन्दू धर्म की बड़ी कमज़ोरी मानते हैं।

परन्तु असल में यह बात है कि हिन्दू धर्म साम्प्रदायिक नहीं, वह केवल संगठन के लिए नहीं बना। वह तो सत्य की खोज, ज्ञान की वृद्धि और ईश्वर का साक्षात्कार करने के लिए विकसित हुआ है। हज़रत ईसा मसीह ने जब अपने देश के लोगों को रोमन साम्राज्य के अन्तर्गत दासता में डूबते देखा, तो उन्होंने उनके उत्थान के लिए एक नवीन संगठन करना चाहा। इस प्रकार हज़रत मुहम्मद साहिब ने अरबों का संगठन करने के लिए कड़े मज़हबी नियम बनाए और एक ज़बरदस्त पोलिटिकल मशीन की बुनियाद डाली। दुनिया के सब मज़हब अपने-अपने समय के क्रान्तिकारियों, सुधारकों, आचार्यों, गुरुओं और महापुरुषों के परिश्रम का परिणाम हैं; इसीलिए वे उनके नामों से प्रसिद्ध हैं। खास-खास सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों में उनका जन्म हुआ, इसी कारण उनके प्रवर्तकों ने बड़े-बड़े नियमों से अपने शिष्यों को बांध दिया, ताकि वे अपने आचार्यों के सामाजिक अथवा राजनीतिक उद्देश्य की सिद्धि करें। हिन्दू धर्म ऐसी किसी परिस्थिति में उत्पन्न नहीं हुआ। यह मनुष्य के लाखों वर्षों के अनुभव का परिणाम है। यह किसी व्यक्ति-विशेष पर अवलम्बित नहीं और न किसी पैगम्बर के इल्हाम का मोहताज है। यही वजह है कि संप्रदायों के कड़े नियमों में बंधे हुए लोग धर्म की इस उदारता और विशालता को समझ नहीं सकते। जिन्होंने सत्यज्ञान की खोज करनी है, जो अनन्त के पथ पर जाना चाहते हैं और जिन्होंने ईश्वर की अद्भुत रचना को समझना है, वे भला कड़े नियम क्यों बनाएंगे ? उनका विकास तो उदार नियमों से ही हो सकता है ताकि ज्ञान का मार्ग बन्द न हो, और प्रत्येक सत्य का जिज्ञासु

बिना किसी अड़चन के अपने अनुभव दुनिया को दे सके। यह अत्यन्त दुख की बात है कि सामाजिक और राजनीतिक काम करनें वालों नें ईश्वर और उसके ज्ञान का ठेका भी ले लिया। जनता के अन्धविश्वास का फ़ायदा उठाकर उन्होंनें इसके सहारे अपना संगठन दृढ़ तो अवश्य कर लिया, परन्तु सत्य ज्ञान और ईश्वर-दर्शन का द्वार बन्द कर गए। ईसाई और मुसलमान कोई नया ज्ञान, ईश्वर-सम्बन्धी कोई नई खोज, भौतिक पदार्थों का कोई नया चमत्कार संसार को नहीं दे सकते। वे केवल अपनी इल्हामी पुस्तकों की बार-बार रट लगा सकते हैं। जैसे खूंटे से बंधा हुआ बैल उसके इर्द-गिर्द घूमता रहता है, इसी प्रकार ये साम्प्रदायिक लोग अपनें इल्हामी खूंटे से बंधे रहते हैं। इनके बड़े-बड़े मौलाना नई रोशनी के मुताबिक आयतों का अनुवाद करने का यत्न करते हैं, पर व्यर्थ। क्योंकि उनके विरोधी दूसरे अरबी के पंडित, इन्हीं आयतों का भिन्न अर्थ करते हैं। इस प्रकार झगड़ा बढ़ता ही जाता है।

विरोधी यह कहते हैं कि हिन्दू धर्म में विभिन्नता है, इसलिए इसके माननें वाले एक मत के नहीं हो सकते; जब वे एक मत के न हों तो उनमें एकता नहीं आ सकती। सच्चाई तो एक होती है, फिर उसमें विभिन्नता कैसी ?

इसके उत्तर में हिन्दू धर्म यह कहता है कि जो अनादि सच्चाइयां हैं, वे विभिन्नता रहनें पर भी एक जैसी ही होंगी, क्योंकि हिन्दू धर्म विभिन्नता में एकता स्थापित करता है। विचार भिन्न-भिन्न भले ही हों, उन्हींमें सौन्दर्य है, लेकिन भिन्न-भिन्न विचारों को सहन कर हमें उनमें एकता स्थापित करनी चाहिए। एक ही प्रकार के फूल और एक ही प्रकार के फलों के पेड़ होने से बाग की खूबसूरती नहीं। जब भांति-भांति के फूल बाग की शोभा को बढ़ाते हैं, तरह-तरह के फलों के पेड़ उसे सजाते हैं, तभी उसका

सौन्दर्य बढ़ता है। हमारा काम यह है कि विरोधी विचारों को बरदाश्त करें और फिर उनमें एकता स्थापित करें। कपिल, कणाद, गौतम, पतंजलि और व्यास उच्चकोटि के चिन्तनशील विद्वान् थे। उनके विचार भी आपस में भिन्न थे। उन्होंने कोई संगठन नहीं किया, केवल मिलकर ज्ञान की गोष्ठी करते थे और अपने ज्ञान को आगे बढ़ाते थे। आज हिन्दू लोग अपने सामाजिक नियमों में मज़हबी आदमियों की तरह बड़ा कड़ा व्यवहार रखते हैं, क्योंकि वह उनके संगठन की चीज़ है, उनके धर्म की नहीं। हिन्दू धर्म सिखलाता है कि अपने मस्तिष्क को ज्ञान के लिए सदा खुला रखो। अपने अन्दर प्रकाश आने दो, परन्तु सामाजिक नियमों में कड़े कायदे रखो ताकि तुम्हारा संगठन सुदृढ़ हो। यही होना चाहिए। हमें ईश्वर के अनन्त ज्ञान को किसी पुस्तक में बन्द करने का कोई अधिकार नहीं, क्योंकि ऐसा करना असम्भव और अव्यवहारिक है। पीछे जो विद्वान् आचार्य ग्रन्थ लिख गए हैं उनके अर्थों को मत बदलिए। ऐसा करने से अन्तःकरण अपवित्र होता है और मक्कारी मनुष्य के चरित्र का अंग बन जाती है। हिन्दू धर्म की इस विशेषता को भली प्रकार समझकर इसका आदर करना चाहिए और साम्प्रदायिक तंग दायरे को छोड़कर विद्यार्थी की हैसियत से विनयी बनकर सदा ज्ञान-संचय करना चाहिए।

हिन्दू धर्म की चौथी विशेषता

हिन्दू धर्म कर्मवादी है, भाग्यवादी नहीं

हिन्दू धर्म में कर्मों का सिद्धान्त ऐसा उत्कृष्ट है कि इसके कारण संसार के चिन्तनशील विद्वानों ने इसे अपनाया है। जब हम

किसी पढ़े-लिखे सुशिक्षित ईसाई मिशनरी से यह पूछते हैं कि तुम अपने बुरे कर्मों का बोझा अपने ईसा मसीह पर लादकर संसार में न्याय के सिद्धान्त की पुष्टि कैसे कर सकते हो, तो उसकी ज़बान बन्द हो जाती है। जिसे अंग्रेज़ी में Fate अर्थात् भाग्य कहते हैं, मानव-समाज में ऐसी विचारधारा पीर-पैगम्बरों पर विश्वास करने से पैदा हुई है। जीवन को लाटरी के रूप में देखने का अभ्यास भी तभी पड़ता है कि जब आप उसके परिणाम पर काबू न पा सकें। ईसाई और मुसलमान अपने किसी कर्म के नतीजे को दृढ़तापूर्वक निश्चित नहीं कर सकते। परिणाम क्या होगा? इसका उत्तर उनकी तकदीर पर है, अर्थात् जो भी फैसला उनका मसीह और नबी कर दे। इसके विपरीत हिन्दू यह भली प्रकार जानता है कि अच्छे कर्मों का नतीजा बुरा नहीं हो सकता और न बुरे का अच्छा। कई भाई यह कह सकते हैं कि बाइबल में भी तो—'जैसा तुम बोओगे, वैसा ही काटोगे'—की उक्ति मिलती है, तो फिर हिन्दू धर्म की यह खास विशेषता क्यों है? उत्तर में हमारा निवेदन यह है कि इन ग्रंथों में परस्पर विरोधी विचार भी प्रविष्ट हुए हैं। यदि इस सिद्धान्त को मान लिया जाए कि जैसा हम बोएंगे वैसा ही काटेंगे, तो फिर मसीह की आवश्यकता कहां रह जाती है? बात असल में यह है कि ईसाई और मुसलमान मनुष्य को जन्म से ही गुनहगार मानते हैं; हिन्दू धर्म इसका विरोधी है। यहूदी संस्कृति के अनुसार आदम ने जब बहिश्त में खुदा के हुक्म की अवहेलना की और शैतान का कहना मान लिया, तभी से वह गुनहगार बन गया। उसीके पापों का फल मानव-सन्तान भोग रही है और उन्हींसे नजात (मुक्ति) पाने के लिए मसीहा और पैगम्बर की मदद चाहिए। जब यह अवस्था है तो वहां बोने और काटने की बात कहां रह जाती है? इसीलिए जब कभी भी कोई सुख का साधन किसी ईसाई और मुसलमान को

मिलता है तो वह उसे अपना सौभाग्य समझता है, क्योंकि जन्म से गुनहगार होने के सबब वह सुख का अधिकारी तो है ही नहीं। इसी कारण हम कह सकते हैं कि हिन्दू धर्म कर्मवादी है और यह मानता है कि अच्छे-बुरे कर्मों का फल अवश्य ही मिलता है। जहां तक हो सके, शुभ कर्म करना चाहिए। यह बड़े दुःख की बात है, कि यहूदी संस्कृति के साथ सम्पर्क होने के कारण हिन्दू जनता में यह भाग्य का सिद्धान्त प्रचलित हो गया है और हिन्दू जनता बहुत अकर्मण्य-सी हो गई है, लेकिन इनका धर्म कर्म का श्रेष्ठ सिद्धान्त सिखलाता है और यह एक घोषणा करता है कि अच्छे कर्म करने वाला, जीवन को पवित्र रखने वाला और प्राकृतिक नियमों के अनुसार चलने वाला सदा उत्थान-पथ पर आरूढ़ रहता है।

अब यहां पर यह प्रश्न होता है कि शान्ति का मार्ग कौनसा है, कर्मवाद अथवा भाग्यवाद या मसीहावाद ? निःसन्देह बहुत-से लोग यह समझते हैं कि जब हम अपना सारा बोझ मसीह, पैगम्बर अथवा भाग्य पर फेंक देते हैं तो हमें चिन्ता के लिए कुछ नहीं रह जाता—हम अच्छे काम करें या बुरे, हमारा मसीह या तकदीर हमें बचा अथवा डुबो देगी। करोड़ों ईसाई और मुसलमान इसी विश्वास को माने हुए हैं, परन्तु प्रकृति का अध्ययन करने वाला अध्यात्मवादी हिन्दू यह कहता है कि प्राकृतिक नियम अटल हैं, ये किसीका लिहाज़ नहीं करते, तब फिर मानव-जीवन में इसका अपवाद कैसे हो सकता है ? बहिश्त या स्वर्ग मानने वाले लोगों के दिलों में दोज़ख या नरक के भयंकर तूफान देखकर अशान्ति हो सकती है, लेकिन हिन्दू तो स्वर्ग और नरक जैसी कोई चीज़ नहीं मानता। वह तो कर्मों का ज़िम्मेदार बनकर बहादुर सिपाही की तरह अपने कर्तव्य-पथ पर चला जाता है। सच्ची शान्ति कर्तव्य पालने में है, इस कारण कर्म का सिद्धान्त मनुष्य को स्थायी शान्ति देता है और उसे सदा भले काम करने पर उत्साहित करता है।

हिन्दू धर्म की पांचवीं विशेषता

हिन्दू धर्म बुद्धिवादी है, विश्वासवादी नहीं

हिन्दुओं के प्रामाणिक ग्रन्थ पढ़ने से यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है कि प्राचीन काल के आर्य मेधा अर्थात् बुद्धि को जीवन में ऊंचा स्थान देते थे। उनके गायत्री मन्त्रों में भी बुद्धि को सबसे ऊंचा स्थान मिला है। दूसरे मज़हब वाले ईश्वर से रोटी के लिए प्रार्थना करें, बहिश्त में जाने की इच्छा रखें, परन्तु हिन्दू बुद्धि को अपनी प्रार्थना में सर्वश्रेष्ठ स्थान देता है। इसीलिए हिन्दू धर्म बुद्धिवादी है, विश्वासवादी नहीं। संसार के विशाल पथ पर जब मैं घूमता हुआ किसी मुसलमान मौलवी अथवा ईसाई पादरी के पास जा निकलता हूं और ज्ञान की चर्चा करता हूं तो वह मुझे अपनी इल्हामी किताब, अपनें मसीहा या पैगम्बर पर विश्वास लाने का उपदेश देता है, अपनी खुदाई किताब को शुरू से आखिर तक सुनाता है और कहता है कि बस इसपर ईमान लाओ तो वेड़ा पार है— तो मैं उसकी अज्ञानता पर हंस देता हूं। भला धर्म में ईमान को कौन-सा स्थान मिल सकता है? आप दो ही ताकतों से अपने अक्लमन्द विरोधी को जीत सकते हैं— एक, निर्दोष तर्क से और दूसरे, पवित्र जीवन से। तीसरी कोई शक्ति ऐसी नहीं जो धार्मिक क्षेत्र में आकर्षण रख सके। मूर्ख से मूर्ख मनुष्य भी किसी निकम्मे सिद्धान्त को मानकर ईमान लानें का ढोंग रच सकता है। भला ऐसे ढोंग पर सच्चे मज़हब की इमारत खड़ी हो सकती है? जिन्होंने हिन्दू धर्म की बुनियाद डाली थी, उन्होंने अनुभव से सीखा—'बुद्धिर्यस्य वलं तस्य निर्बुद्धेस्तु कुतो बलम्'—अर्थात् जिसके पास बुद्धि है उसीके पास बल है, बेवकूफ के पास बल कहां? साथ ही उन्होंने दिव्य चरित्र की

महिमा को भी समझा था, इसलिए उन्होंने अपनी संतान को सिखाया कि जीवन को पवित्र बनाकर विवेक से संसार का उपभोग करो। जिसने केवल विश्वास पर अपने धर्म को पकड़ा है वह अंधेरे कुएं में है। उसे कोई भी उसकी मज़हबी किताब को जानने वाला गलत अर्थ लगाकर बहका सकता है। इसी कारण ईसाई मत और इस्लाम के फैलाने में भयंकर युद्ध हुए और रक्त की नदियां बहीं। स्वार्थियों ने ईमान का ढोंग रचकर गाजर-मूली की तरह निरपराधियों को काट डाला। जो व्यक्ति केवल विश्वास से किसी मज़हब का अनुयायी बनता है, वह तो केवल भेड़ है। हिन्दू धर्म विवेकिनी बुद्धि की पूजा करता है इसी कारण इसमें सहनशीलता का सद्गुण है। यह भिन्न विचार रखने वाले पुरुष या स्त्री के प्रति कोई द्वेषभाव नहीं रखता। आज इस बात की ज़रूरत है कि हम हिन्दू धर्म के इस उच्च गुण को समझें और भेड़ बनाने वाले दूसरे मज़हबों के साथ अपने इस प्राचीन धर्म का मुकाबला करें। संसार में सबको स्वतन्त्र विचार रखने का हक है। विश्वास के सिद्धान्त को मान लेने से ऐसी स्वतन्त्रता नष्ट हो जाती है।

हिन्दू धर्म की छठी विशेषता

हिन्दू धर्म त्यागवादी है, भोगवादी नहीं

हिन्दू धर्म की प्रवृत्ति त्याग की ओर है। इसकी संस्कृति का श्रेष्ठतम सिद्धान्त यह है कि आवश्यकताओं को कम करने वाला और आत्मिक उन्नति की ओर मुंह रखने वाला समाज अपने सब सदस्यों को बराबर के अधिकार-अवसर देता हुआ

उन्नति की ओर बढ़ता जाता है। रोटी के कारण समाज में भयंकर संग्राम रहता है। पेट सबको लगा है। उस संग्राम को मिटाने के लिए आवश्यकताओं की कमी का सिद्धान्त सचमुच रामबाण औषध है, यदि साथ ही पुरुषार्थ और सभ्यता के विकास में बाधा न हो। हिन्दू धर्म यह कहता है कि यदि तुम अध्यात्मवादी बने रहोगे और प्रभु की खोज की चाह तुममें निरन्तर रहेगी, तभी आवश्यकताओं की कमी का सिद्धान्त समाज के लिए लाभदायक हो सकता है। दूसरे मज़हब वाले तथा पश्चिमी सभ्यता के पक्षपाती हिन्दू धर्म पर दोष लगाते हैं कि आवश्यकताओं की कमी का आदर्श रखने के कारण ही हिन्दू धर्मानुयायियों में आलस्य, प्रमाद और अकर्मण्यता ने घर कर लिया है। हम विनयपूर्वक विरोधियों से मतभेद रखते हैं और निवेदन करते हैं कि वर्तमान हिन्दू समाज हिन्दू धर्म से बहुत दूर हट गया है; इसपर यहूदी संस्कृति, मुसलमानी सभ्यता तथा पश्चिमी संस्कृति का बहुत अधिक प्रभाव पड़ गया है। जिन आर्यों ने जीवन में चार आश्रमों की बुनियाद डाली थी वे आलसी और अकर्मण्य नहीं थे; जिन्होंने घनघोर जंगलों में हिंसक जन्तुओं की गर्जना की परवाह न कर इस देश की जंगली जातियों में आर्य संस्कृति का प्रचार किया और आर्यों का चक्रवर्ती राज्य स्थापित किया; वे सचमुच निकम्मे और आलसी नहीं थे। इस्लाम भोगवादी है, लेकिन ईसाई धर्म में अवश्य ही त्याग के गुण मौजूद हैं, जिन्हें हम बौद्ध धर्म की देन समझते हैं। लेकिन ईसाई-दुनिया ने उस त्याग का लाभ नहीं उठाया, बल्कि ज़रूरतों की अधिकता के सिद्धान्त को सभ्यता का प्रचारक मानकर उनके दास बन गए। यही बड़ा भारी भेद पूर्व और पश्चिमी संस्कृतियों में है। पश्चिम ने इसी गलत सिद्धान्त के कारण सैकड़ों बखेड़े खरीद लिए और आज उसीकी वजह से बोलशेविज़्म रूपी अजगर मुंह बाए यूरोपीय संस्कृति को निगलने के लिए तैयार

बैठा है। हिन्दू धर्म के संस्थापक धन के विषैले प्रभाव को भली प्रकार जानते थे, इसलिए उन्होंने समाज का आदर्श अनन्त की खोज रक्खा और त्याग को उसका मुख्य साधन बनाकर धन को धर्म की सिद्धि हेतु घोषित कर दिया। परिणामस्वरूप समाज में धन संग्रह करने की बीमारी दूर हो गई और धनवान् उसे लोकोपकारी कार्यों में खर्च करने लगे। अन्न को दूसरों में बांटना अत्यन्त श्रेष्ठ कार्य समझा गया। इसी प्रकार हिन्दू धर्म ने सबके लिए ज्ञान का द्वार खोलकर सात्त्विक शांति की बुनियाद डाली।

हिन्दू धर्म की इसी विशेषता के कारण आज महात्मा गांधी विश्वविख्यात हो गए हैं। ज़रूरतों की कमी के साथ उनमें ऊंचे दर्जे के पुरुषार्थ, सुन्दर चरित्र और आदर्श कर्मयोग मौजूद थे। वे दिन-भर काम करते नहीं थकते थे और नीरोग से नीरोग यूरोपीय का कर्मयोग में मुकाबला करते थे। अनन्त की खोज के साथ त्याग के सिद्धान्त का कैसा सम्मिश्रण हो सकता है, इसका उदाहरण गांधीजी ने संसार को दिखलाया है। तभी उनके साथ मतभेद रखने वाले भी उनका बड़ा आदर करते हैं और दूर-दूर देशों में उनके प्रशंसक मौजूद हैं।

हिन्दू धर्म की सातवीं विशेषता

हिन्दू धर्म ईश्वरवादी है, पैगम्बरवादी नहीं

एक अन्य विचित्र विशेषता हिन्दू धर्म की है, जिसे इसके विरोधी समझ नहीं सकते। सभी मज़हब किसी न किसी पीर, पैगम्बर, मसीह, अवतार और गुरु को मानते हैं, जिसके द्वारा उनके अनु-

यायी ईश्वर तक पहुंचने का दावा करते हैं। उनकी यह धारणा है कि बिना किसी माध्यम के, विना किसी सिफारिश करने वाले के, विना किसी पैगम्बर के मनुष्य की पहुंच खुदा तक नहीं हो सकती। इसलिए वे अपने माध्यम, गुरु या पैगम्बर पर सोलह आने भरोसा रख उसीके अनुभव द्वारा खुदा को जानने का प्रयत्न करते हैं। परिणाम यह होता है कि वे अपने उस मसीहा, उस माध्यम को सर्वेसर्वा मान बैठते हैं और उससे आगे एक इंच भी नहीं बढ़ सकते, बल्कि यहां तक कहने लगते हैं कि उनके उस गुरु अथवा पैगम्बर से बढ़कर दुनिया में न कोई हुआ और न आगे को होगा। थोड़े शब्दों में वे उसी तक ज्ञान की इतिश्री मान लेते हैं और उससे आगे कोई नई खोज, कोई नया अन्वेषण ईश्वर के सम्वन्ध में नहीं कर पाते। यही कारण हुआ कि प्राचीन काल के हिन्दुओं के अतिरिक्त और किसी मज़हव वाले ने आज तक ईश्वर-सम्वन्धी खोज को आगे नहीं बढ़ाया, उलटा उसे तंग दायरे में बिठलाकर साम्प्रदायिकता और विज्ञान के भीषण जंगल खड़े कर दिए हैं। ईसाइयों ने आत्मा, परमात्मा और प्रकृति के सम्बन्ध में आज तक कोई खोज नहीं की। बाइवल में जो झूठी-सच्ची बातें पुराने यहूदी पैगम्बर लिख गए हैं, उन्हींका रोना बार-बार रोते चले आते हैं। साइंस ने अलबत्ता मज़हब का गला घोंटकर अन्वेषण-क्षेत्र में अद्भुत उन्नति की है। इसी प्रकार मुसमानों ने अपने-अपने पैगम्बर को खुदा का माध्यम मानकर कुछ भी नई खोज, कुछ भी नई वाकफियत आत्मा और परमात्मा के विषय में दुनिया को नहीं दी। उन्होंने केवल मज़हवी झगड़े फैलाकर समाज में रक्त की नदियां वहाई हैं। ऐसी ही सब सम्प्रदायों की दशा है।

केवल एक हिन्दू धर्म ही ऐसा है जो मनुष्य का ईश्वर के साथ सीधा सम्बध मानता है, और जिसने आत्मा की अच्छी तरह से गवेषणा की है और परमात्मा की प्राप्ति के लिए सुन्दर वैज्ञानिक

ढंग बतलाया है। हमें दुःख से यह बात माननी पड़ती है कि पिछले एक हज़ार वर्षों में हिन्दू धर्मानुयायियों पर भक्ति-मार्गी पैगम्बर-वादियों का बहुत बुरा असर पड़ा है, जिसकी वजह से गुरुडम का भयानक तूफान हिन्दू विचारधारा में उठ खड़ा हुआ है। इसी कारण हिन्दू विद्वान् अपने ऋषियों के अन्वेषण को आगे नहीं बढ़ा सके। वे मुसलमानों और ईसाइयों की तरह दूसरों की चबाई हुई हुई चीज़ को चबाने में ही अपना अहोभाग्य समझते हैं। इनमें भी साम्प्रदायिकता और गुरुडम की बीमारी घर कर गई है। इन्होंने भी संसार को कोई नया नीरोग ज्ञान पिछले डेढ़ हज़ार वर्षों से नहीं दिया। उपनिषत्काल के ऋषि-मुनियों के दिव्य अनुभव तथा षट्शास्त्रों के प्रातःस्मरणीय रचयिताओं के अनुभव हिमालय के धवल शिखरों की तरह आज भी खड़े दूरस्थित दर्शकों को अपनी ओर आकर्षित करते हैं और तब तक आकर्षित करते रहेंगे जब तक कि मनुष्य में ज्ञान की प्यास रहेगी।

लेकिन अफसोस है कि मसीहा और पैगम्बरवादियों के संकुचित प्रभाव ने हिन्दू धर्मानुयायियों की उदारता और विशालता को प्रायः नष्ट ही कर दिया है। उन्होंने पैगम्बर के स्थान पर अवतार को रख लिया है और उनका अवतार भी एक कदम आगे बढ़कर स्वयं ईश्वर बनकर बैठ जाता है, जिससे खोज की रही-सही इच्छा भी नष्ट हो गई है। क्या सिख, क्या बौद्ध, क्या जैनी, क्या शैव, क्या शाक्त और वैष्णव—सभी इसी व्याधि से जकड़े पड़े हैं। श्री कबीर जी ने भी गुरु को गोविन्द से ऊंचा बतलाकर हिन्दुओं में पैगम्बरवादिता की बीमारी को मज़बूत किया है। उपनिषत्काल की वह निर्मल, विमल और आत्मस्रोत से निकली हुई धारा कैसी स्वच्छ और कैसी पवित्र थी! उसमें किसी माध्यम का मेल नहीं था। वह सीधी-सच्ची विचारधारा थी, जो प्रभु का अनुसन्धान करती थी; और अनुसन्धान करने वाले थे ऋषिपुत्र और पुत्रियां

जो प्राकृतिक रमणीयता का आनन्द लेते हुए अपने स्वतन्त्र अनुभवों से शास्त्रों की रचना करते थे। संसार-भोग उन्हें अपनी ओर नहीं खींचते थे, वे गुरु या पैगम्बर बनने की इच्छा नहीं रखते थे। अत्यन्त विनीत भाव से गायत्री मंत्र का जाप करते हुए वे यही कहते थे :

"यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्।"

वे थे ज्ञानवादी आर्य, ईश्वर के परम प्यारे। उन्होंने जीवन के लक्ष्य को समझा था। ईश्वर के साथ मनुष्य का सीधा सम्बन्ध है; किसी वकील, बैरिस्टर, मसीहा, पैगम्बर और गुरु की बीच में आवश्यकता नहीं। मनुष्य की निर्बलताओं को वे जानते थे, इसी कारण उन कमज़ोरियों को जड़ से काटने वाले नुस्खों की तलाश वे कर गए। ज़रा-सा भी सहारा पाकर मनुष्य अकर्मण्य हो जाता है, ज़रा-सी भी स्वच्छन्दता मिलने पर मनुष्य बुराई की तरफ भागने लगता है, इसीलिए उन्होंने कहा :

"यन्मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति,
यद्वाचा वदति तत्कर्मणा करोति,
यत्कर्मणा करोति तदभिसम्पद्यते।"

कैसा सुन्दर बुद्धिवाद का उपदेश है; तुम अपने पुरुषार्थ से ही आगे बढ़ सकते हो, शुद्ध जीवन तुम्हारे अपने ही पुनीत कर्मों का परिणाम है। कोई दूसरा तुम्हें नहीं बचा सकता है। जैसा तुम सोचते हो वैसा ही मुंह से कहते हो, जैसा मुंह से कहोगे वैसा ही काम करोगे, और जैसा काम करोगे वैसा ही फल पाओगे। यह है हिन्दू की विचारधारा, जिसकी बदौलत वह ईश्वर से पिता-पुत्र का सीधा सम्बन्ध पैदा करता है और बिना खुशामद व तौबा के अपने उद्देश्य की सिद्धि करता है।

भला ऐसे हिन्दू धर्म के सामने पैगम्बरवाद कैसे ठहर सकता है ? पैगम्बरवाद में धोखा-धड़ी, मक्कारी, दम्भ और फरेब के

कितने बड़े-बड़े सुराख हैं; उसमें निर्भरता की कितनी बड़ी खाई है; उसमें गुलामी का कैसा गन्दा नाला है; और ज्ञान का द्वार तो सदा के लिए बन्द हो जाता है।

अब यहां पर प्रश्न यह उठता है कि क्या हिन्दू धर्म में गुरु के लिए स्थान है ही नहीं? इसके उत्तर में हमारा नम्र निवेदन यह है कि अवश्य है, पर वहां गुरु का अर्थ आचार्य से है। प्राचीन काल के ऋषियों ने—'मातृमान्, पितृमान्, आचार्यवान् पुरुषो वेद'—अर्थात् माता, पिता और आचार्य इन तीनों को गुरु माना है। उन्हें वे शिक्षक मानते थे; पथप्रदर्शक समझते थे और उनका श्रद्धा से आदर करते थे; परन्तु यह कभी नहीं मानते थे कि शिष्य गुरु से आगे नहीं बढ़ सकता, या उसके जैसा आचार्य संसार में न कोई हुआ और न होगा। शिष्य गुरु के ज्ञान को प्राप्त कर स्वयं उससे आगे बढ़ने का आदर्श अपने हृदय में रखता था, और जब गुरु से अधिक ज्ञानी होकर वह संसार के ज्ञान-भण्डार को कोई नया रत्न देता था, तो बड़ी श्रद्धा से अपने गुरु को नमस्कार कर उसका उपकार मान कहता था—"यह मेरे गुरुजी के पुण्य प्रताप का फल है।" कृतज्ञता तो आर्यों की नस-नस में भरी हुई थी, लेकिन गुरु को सर्वेसर्वा मानकर ज्ञान का द्वार बन्द नहीं करते थे। यह है भेद हिन्दू-गुरु-विचारधारा और वर्तमानकाल के पैगम्बरवाद में। पहली में सुरभि, विनय, श्रद्धा, उपकार और ज्ञान—इतने गुण मिले हुए हैं; और दूसरी में साम्प्रदायिकता, अन्धविश्वास, ज़िद, जहालत और शत्रुता भरी हुई है।

अतः हिन्दू धर्म की यह विशेषता संसार के लिए दिव्य प्रकाश-स्तम्भ है, शान्तिदायिनी है, भ्रातृभाव का अनुपम संदेश है।

हिन्दू धर्म की आठवीं विशेषता

हिन्दू धर्म प्रजातन्त्रवादी है, एकाधिपत्यवादी नहीं

कांग्रेस के आन्दोलन में खिलाफत का आन्दोलन अपना विचित्र इतिहास रखता है। जब सन् 1921 में महात्मा गांधीजी ने स्वराज्य-प्राप्ति की प्रगति के साथ खिलाफत के भैंसे को जोड़ दिया, तो भारत का शिक्षित समुदाय अवाक् रह गया। ईसा की इस बीसवीं सदी में जब प्रजातन्त्रवाद का इतना ज़ोर है और कांग्रेस निरंकुशता के विरुद्ध जी-जान से लड़ रही थी, तो खिलाफत के एकाधिपत्यवाद के अत्याचारी झमेले को कांग्रेस का आन्दोलन बना लेना सचमुच अत्यन्त विस्मयजनक बात हुई। पर महात्मा गांधी का जीवन तो ऐसे ही विस्मयों से भरा हुआ था। मेरे जैसा कट्टर प्रजातन्त्रवादी भी खिलाफत की दलदल-भरी खाड़ी में फंस गया और लगा मुसलमानों के लिए आंसू बहाने। इतिहास में प्रायः यह हुआ है कि महापुरुषों के गलत प्रभाव में पड़कर चिन्तन-शील व्यक्ति भी अपनी समझ को खो बैठते हैं। खिलाफत आन्दोलन के समय हम लोगों की ऐसी ही दशा हुई।

उस खिलाफत आन्दोलन के बड़े अगुआ अलीभाई थे। इन दोनों भाइयों ने इसीकी बदौलत बहुत ख्याति प्राप्त की थी और अपना स्वार्थ भी सिद्ध किया था। पर खिलाफत टूटी और तुर्की के वीर राजनीतिज्ञ मुस्तफा कमालपाशा ने खलीफा को तुर्की से निकाल दिया, तो मौलाना मुहम्मदअली और मौलाना शौकतअली बुरी तरह छटपटाए। उनके पांव तले की भूमि निकल गई। मौलाना शौकतअली ने कमालपाशा के पास अत्यंत विनय से भरा हुआ तार भेजकर प्रार्थना की कि तुर्की भले ही प्रजातन्त्रवादी हो जाए, लेकिन खलीफा को अवश्य ही तुर्की में रहने देना चाहिए।

बुद्धिमान् कमालपाशा ने तार द्वारा उत्तर भेजकर एक करारा थप्पड़ मौलाना को मार ही तो दिया। उत्तर यह था—"State within a state can not exist."—अर्थात् एक मियान में दो तलवारें नहीं रह सकतीं। तुम एकाधिपत्य भी चाहो और प्रजातन्त्र भी, यह बात नितांत असम्भव है। भला मौलाना की मोटी बुद्धि में यह बात कैसे आ सकती थी ?

इस्लाम एकाधिपत्य का ज़बरदस्त पोषक है, इसीलिए इनमें खलीफा को पैगम्बर का प्रतिनिधि मानकर सबसे ऊंचा स्थान दिया गया है, और उसके हुक्म को कोई मुसलमान नहीं टाल सकता। इसी बलबूते पर तो तुर्की के खलीफाओं ने अपनी प्रजा पर मनमाने अत्याचार किए और लोग चूं तक नहीं कर सकते थे, क्योंकि खलीफाओं की पीठ पर मज़हबी शक्ति थी। ईसाई मज़हब के लोग खलीफा को पोप कहते हैं। वह भी खुदा का प्रतिनिधि माना जाता है। रोमन कैथोलिक दुनिया उसे अपना मज़हबी पेशवा मानती है और उसका हुक्म टाला नहीं जा सकता। जिन दिनों रोमन कैथोलिकों का ज़ोर था, पोप के हाथ में प्रचण्ड शक्ति थी और उसका दबदबा सारे यूरोप पर था। मज़हबी सिद्धान्तों के अनुसार रोमन कैथोलिक लोग और हमारे मुसलमान बन्धु एकाधिपत्य के मानने वाले हैं, इसी कारण इस्लामी सल्तनतें निरंकुशता के साथ शासन करती रही हैं।

इसके विपरीत हिन्दुओं के यहां शासन का तरीका पंचायती है। आप पुराने हिन्दू-इतिहास को पढ़िए, आपको छोटे-छोटे प्रजातन्त्रवादी राज्य बहुत मिलेंगे। इसकी वजह यह है कि हिन्दू धर्म किसी प्रकार के एकाधिपत्य को स्वीकार नहीं करता। त्याग की कसौटी के अनुसार बहुत थोड़ी ज़रूरतें रखनेवाला सेवाव्रती पुरुष ही शासक बन सकता है। इस आदर्श के अनुसार सब किसीको ऊंचा दर्जा प्राप्त करने का अवसर मिल सकता था;

साथ ही प्रत्येक पेशे की अपनी पंचायत थी, जिसके मुखिया नगर और कस्बे की पंचायतों में समानाधिकार से भाग लेते थे। हिन्दू धर्म की इस विशेषता ने ही इसकी जड़ें पाताल तक पहुंचा दी हैं और भीषण आक्रमणों के होने पर भी इसके किले पर शत्रु विजय प्राप्त न कर सके। दूसरे मज़हब वाले ईश्वर का यथार्थ स्वरूप न समझकर, उसके प्रतिनिधियों को वही अधिकार दे बैठे जो उन्हें खुदा को देना था। इस वजह से इनके खुदा के प्रतिनिधि निर्भ्रान्त माने जाते हैं, अर्थात् वे कोई भूल नहीं कर सकते। ऐसी अवस्था में एकाधिपत्य का होना स्वाभाविक था। हिन्दू वेदान्त के आदर्श को मानता है और प्रत्येक आत्मा को परमात्मा तक पहुंचने का हक देता है। इसी कारण हिन्दू धर्म के लिए प्रजातन्त्रवाद स्वाभाविक है।

जो लोग साम्प्रदायिकता में फंसे हुए हैं, उन्हें हिन्दू धर्म इसीलिए समझ में नहीं आता, क्योंकि इसके सिद्धान्त उनसे बिल्कुल भिन्न हैं। दूसरे मज़हबों वाले अपने किसी खलीफा, किसी महापुरुष को महान् मानते हैं, लेकिन हिन्दू धर्म संसार को परिवर्तनशील समझता है। इसीलिए इसके विद्वानों ने समय-समय पर नई-नई स्मृतियां रचकर इसके विकास में सहायता पहुंचाई है। जब तक हिन्दू लोग अपने धर्म की इस विशेषता के अनुसार अलग रहते रहे, तब तक ये संसार के सिरमौर रहे। परन्तु जब उन्होंने दूसरे मजहबों की नकल कर आचार्यों का एकाधिपत्य स्वीकार कर लिया तब से इनका विकास रुक गया और इनका अधःपतन हो गया। वर्तमान हिन्दू धर्म आदि धर्म से पीछे हट गया है। इसके विरोधियों को उसके असली स्वरूप को समझकर इसकी महत्ता को पहचानना चाहिए।

हिन्दू धर्म की नवीं विशेषता

हिन्दू धर्म अहिंसावादी है, हिंसावादी नहीं

पिछले कई वर्षों से अहिंसा के सिद्धान्त ने भारतवर्ष के राजनीतिक क्षेत्र में बड़ी प्रसिद्धि प्राप्त की है। महात्मा गांधीजी की कृपा से अहिंसा शब्द की बड़ी विशद व्याख्याएं, बड़ी छीछालेदर और टीका-टिप्पणियां हुई हैं। बहुत-सी छोटी-बड़ी पुस्तकें और विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ इस विषय पर लिखे जा चुके हैं। समाचार-पत्रों ने भी अहिंसा और हिंसा के सिद्धान्तों पर अपने विचार खुले तौर पर प्रकट किए हैं। संक्षेप में कहने का अभिप्राय यह है कि यह विषय खूब अच्छी तरह से मंज चुका है। कहनेवालों नें कोई कसर उठा नहीं रक्खी।

अहिंसावाद का सबसे बड़ा पक्षपाती जैन सम्प्रदाय है, जो हिन्दू धर्म का एक अंग है। इस सम्प्रदाय के विद्वानों नें अहिंसा की व्याख्या इतनी अधिक विस्तृत कर दी है कि उसकी व्यावहारिक उपयोगिता को भी बहुत बड़ा धक्का पहुंच गया है। वैष्णव सम्प्रदाय के लोग भी अहिंसावादी हैं, लेकिन उनका अहिंसावाद जैनियों जैसा नहीं है। वे मांस खाने के पक्षपाती नहीं। अहिंसा का साधारण अर्थ आजकल वह माना जाता है जिसे महात्मा गांधीजी नें शिरोधार्य किया है। गांधीजी नें तो अहिंसा को ब्रह्मास्त्र मानकर युद्ध-क्षेत्र तक में इसका उपयोग बतलाया है। उनका यह कहना है Soul Force अर्थात् आत्मिक शक्ति पशुबल से श्रेष्ठतर है। इस कारण संसार के द्वेषभाव मिटाने के लिए और भ्रातृभाव की स्थापना करने के लिए अहिंसा को काम में लाना चाहिए। यदि कोई शत्रु हमारे देश पर चढ़ आए तो हमें द्वेष को छोड़कर अहिंसा की भावना से ओतप्रोत होकर उसके सामने डट जाना चाहिए।

शत्रु भले ही हमारे आदमियों को मार डाले, लेकिन हमें उसके विरुद्ध हाथ नहीं उठाना चाहिए। जब शत्रु की हिंसावृत्ति शांत हो जाएगी, तो उसकी आत्मा चैतन्य होगी और प्रभु की दिव्य ज्योति का प्रकाश उसके ज्ञान-नेत्र खोल देगा, तब वह अपनी भूल पर पश्चात्ताप कर युद्ध का अन्त कर देगा। भगवान् बुद्ध और महात्मा गांधी इस सिद्धांत को मानते हैं कि द्वेष द्वेष से शांत नहीं होता, बल्कि प्रेम से शांत होता है। हज़रत ईसा मसीह ने भी इस सिद्धांत की पुष्टि की है। मगर ईसा मसीह के अनुयायियों ने व्यावहारिक रूप में इसे स्वीकार नहीं किया। आज 1900 वर्षों के बीत जाने पर भी ईसाई देश बराबर युद्ध पर डटे हुए हैं। इससे पता चलता है कि इन तीनों महापुरुषों का स्वीकार किया हुआ अहिंसा का यह रूप केवल आदर्श-मात्र है। बौद्ध देशों ने भी कभी युद्ध से मुंह नहीं मोड़ा। केवल महाराज अशोक का एक ऐसा उदाहरण है कि जिसने शस्त्र-विजय के स्थान पर धर्म-विजय का प्रचार किया। भारतवर्ष में अहिंसा के इस रूप ने लोगों में कायरता भर दी है और साधारण हिन्दू जनता अपनी कायरता छिपाने के लिए दया और अहिंसा का आश्रय ले लेती है।

तो प्रश्न उठता है कि हिन्दू धर्म का अहिंसावाद है क्या चीज़? हिन्दुओं का इतिहास यह बतलाता है कि प्राचीन हिन्दू समाज में क्षत्रियों का बड़ा ऊंचा स्थान था और वे ही राज्य-शासन-चक्र संभालते थे। उनकी लड़ाइयों की कथाओं से हमारे ग्रंथ भरे पड़े हैं। जो कोई लेखक अथवा साधु-महात्मा युद्ध करने वाले इन आर्यों की वीरगाथाओं से इन्कार करता है वह सचमुच हिन्दू धर्म से परिचित नहीं है। हम यह कह सकते हैं कि हमारी अहिंसा की व्याख्या अपने पूर्वजों से भिन्न है, परन्तु हम किसी तरह से भी पुरानी गाथाओं, पुराने इतिहास और अपने पूर्वजों की वीर-चरितावलियों को नहीं बिगाड़ सकते। हमें अर्थों का अनर्थ करने

का कोई अधिकार नहीं। अतएव हम जो कुछ हिन्दू धर्म के अहिंसावाद पर कहने लगे हैं उसका आधार हमारा पिछला इतिहास है।

हिन्दू धर्म ईश्वर-प्राप्ति को अपना जीवनादर्श मानता है और उसका साधन योगाभ्यास बतलाता है। महर्षि पतंजलि ने अहिंसा की व्याख्या करते हुए यह बात कही है—'अहिंसा-प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः'—जो मनुष्य अहिंसा की सिद्धि कर लेता है उसमें किसी प्रकार का द्वेष, किसी प्रकार की शत्रुता नहीं रहती, अर्थात् वह वीतराग हो जाता है। महर्षि पतंजलि ने इस प्रकार की सिद्धि उन लोगों के लिए कही है जो योगाभ्यास द्वारा ईश्वर-प्राप्ति करना चाहते हैं। ऐसे लोगों को किसी प्रकार के सामाजिक आन्दोलन द्वारा संग्राम में नहीं जाना चाहिए। जो क्षत्रिय हैं, जिनके ज़िम्मे शासन-भार है अथवा जो व्यापारी हैं या जिनका धंधा सेवा करना है, वे भला शत्रुता से कैसे बच सकते हैं!

शुद्ध अहिंसा-धर्म विकास की चीज़ है। हिन्दू धर्म के संस्थापक मानव-स्वभाव से परिचित थे, इसीलिए उन्होंने अपने धर्म का स्वभाव प्राकृतिक नियमों के अनुसार अहिंसावादी रखा। पशु-स्वभाव तो मनुष्य का है ही, हमें इसे सात्त्विक वृत्ति की ओर ले जाना है, और प्रबन्ध यह करना है कि पशुबल का यथायोग्य नियंत्रण कर, उसमें सामाजिक उपयोगिता भर, अंतिम लक्ष्य सात्त्विक वृत्ति की प्राप्ति की जाए। जो नियम वैश्य और क्षत्रिय के लिए लागू होते हैं वे ब्राह्मण के लिए ही नहीं होते। धीरे-धीरे दर्जा-ब-दर्जा क्षात्रधर्म द्वारा मनुष्य आदर्श की ओर बढ़ता चला जाता है और अन्त में वह ब्राह्मणत्व-पद पाकर उसकी सिद्धि कर लेता है। तो हिन्दू धर्म का अहिंसावाद यह है कि जहां तक हो सके हृदय को द्वेष से दूर करने की आदत डालनी चाहिए; युद्ध आ पड़े तो निर्भय होकर करना चाहिए। दूसरों का बीजनाश करने के

लिए नहीं, बल्कि सुधार के लिए, मित्रता-भाव रखकर। अमरीकन घरेलू युद्ध में जब सन् 1860 में उत्तर और दक्षिण की अमरीकन फ़ौजें हब्शियों की आज़ादी के सिद्धांत पर रणक्षेत्र में भिड़ीं तो दोनों दलों के सिपाही लोग शांति के समय आपस में मिलते, खाने की चीज़ें बांटते और प्रेमालाप करते थे। वही सिपाही लड़ाई शुरू होने पर सेनापतियों का हुक्म पाकर एक-दूसरे पर बन्दूकें दागते थे। कुरुक्षेत्र के युद्ध में भी ऐसा ही हुआ था। आर्य लोगों का अहिंसावाद यह था कि सामाजिक नियन्त्रण और दुष्टों के दलन के लिए युद्ध आवश्यक है, मगर उसमें द्वेष का विष नहीं आना चाहिए। जब इस प्रकार मनुष्य अभ्यास करता चला जाएगा तो ईश्वर-प्राप्ति के दर्जे तक पहुंच सकता है। अपनी पूरी शक्ति को लगाकर शांति का प्रयत्न कीजिए, मगर जब शत्रु माने ही नहीं तो फिर लड़ाई से मुंह न मोड़िए। सदा अपने सामने सात्त्विक आदर्श रहे, क्योंकि वह जीवन का श्रेष्ठतम लक्ष्य है। भगवान् कृष्णचंद्रजी ने शांति के लिए भरपूर कोशिश की थी, मगर दुष्ट दुर्योधन नहीं माना, तब लाचार होकर उन्होंने युद्ध का शंख फूंक दिया। यह है हिन्दू अहिंसावाद।

दूसरे मज़हब वाले अपने से भिन्न मत रखने वालों को नरक में ढकेलते हैं। वे उन्हें काफिर या Heathen कहते हैं। उनके मज़हब के अनुसार काफिर को नजात (मोक्ष) नहीं मिल सकती। ऐसी विचारधारा हिंसावृत्ति सिखलाती है। यही कारण हुआ कि दूसरे मज़हब वालों ने केवल धर्म-प्रचारार्थ दिल खोलकर नरसंहार किया और अपनी भूल नहीं मानी। गद्दियों के लिए लड़ाइयां हिन्दुओं में अवश्य हुई हैं, लेकिन मज़हब फैलाने के लिए उन्होंने एक भी युद्ध नहीं किया। कारण स्पष्ट है—हिन्दू धर्म अहिंसावादी है, हिंसावादी नहीं।

यहां पर एक प्रश्न उठता है कि फिर क्यों हिन्दुओं ने अछूतों

के प्रति ऐसा दुर्व्यवहार समाज में रखा ? क्या ऐसा व्यवहार उनके अहिंसावाद के अनुकूल है ? इसका उत्तर यह है कि जब पुरोहितों के हाथ में समाज की शक्ति आई तो उन्होंने मनमाने कानून बना दिए। जात-पांत का यह पचड़ा प्राचीन आर्यों में नहीं था। चश्मे की धारा शुरू में निर्मल बह रही थी, परन्तु बाद में स्वार्थी लोगों के कारण उसमें गदलापन आ गया। यदि कोई सज्जन हमसे कहे कि नहीं, प्रारम्भ में ऐसा ही था, तो हम स्पष्ट रूप से यह कहेंगे कि यह उस काल के समाज का बड़ा भारी दोष था। परन्तु यह बात अवश्य है कि नस्ल की रक्षा की भावना प्राचीन आर्यों में ज़बरदस्त थी। वे यह मानते थे कि नस्ल को बिगाड़ना—थोड़े विकास के लोगों के साथ शादी-विवाह करना—सामाजिक पाप है, क्योंकि इससे नस्ल खराब होती है और उसमें बौनापन (Stunted growth) आ जाता है। इस नियम को उन्होंने प्रकृति से सीखा। आर्यावर्त में रहने वाले जिन लोगों को उन्होंने जीता था, उनके साथ वे अपना रक्त नहीं मिलाना चाहते थे। इसी कारण उन्होंने शूद्रों के लिए कुछ कड़े नियम बना दिए ताकि समाज में उच्छृङ्खलता उत्पन्न न हो। वर्तमान काल की गति के अनुसार अपने सामाजिक नियम बना लेने चाहिए ताकि हिन्दू समाज का सुन्दर संगठन हो जाए और यह बलशाली होकर अपने अलौकिक आदर्शों की रक्षा कर सके।

हिन्दू धर्म की दसवीं विशेषता

हिन्दू धर्म अध्यात्मवादी है, प्रकृतिवादी नहीं

अपने विद्यार्थी-जीवन को पूरा करने के बाद जब मैं संयुक्तराज्य अमेरिका में पैदल भ्रमण करने के लिए निकला तो मुझे स्थान-स्थान पर व्याख्यान देने का अवसर मिला था। बहुत-से बड़े-बड़े नगरों में वेदांत सोसाइटी की शाखाएं देखने में आईं, जहां स्त्रियां अधिक संख्या में उपदेश सुनने जाती हैं। इन सोसाइटियों के अतिरिक्त थियोसाफिकल सोसाइटी द्वारा प्रभावित कई एक ऐसी सभाएं हैं जो योग के सम्बन्ध में चर्चा किया करती हैं। अमरीकन लोग मुझसे बहुधा यह शिकायत किया करते थे कि हिन्दू लोग फिलासफर होते हैं, जिन्हें आध्यात्मिक विषयों से अधिक दिलचस्पी है, पर वे व्यवहारकुशल नहीं होते। यह आक्षेप हिन्दुओं पर प्रायः वे लोग लगाते हैं जो जीवन-संग्राम में वीरता के प्रशंसक हैं।

निस्संदेह हिन्दू धर्म का विचार-स्रोत अध्यात्मवादी है। उसकी यह धारणा है कि जिस सृष्टिकर्त्ता ने यह संसार रचा है, हमें उसके विषय में पहले जानकारी पैदा करनी चाहिए। जब हम उसे जान लेंगे तो बाकी पदार्थों का जानना बिलकुल आसान हो जाएगा। इस विषय की चर्चा उपनिषदों में पाई जाती है। ऋषि कहते हैं कि हमें पहले उस तत्त्व की खोज कर लेनी चाहिए कि जिसके जान लेने से सारे ब्रह्माण्ड का ज्ञान होता है। इसे ही 'परा' विद्या कहते हैं। इसीकी चर्चा वेदान्त करता है। चूंकि पश्चिम की विचारधारा प्रकृतिवादी है, इस कारण उन्हें हिन्दुओं की फिलासफी और उनका ज्ञान बिलकुल नया मालूम होता है। इसीलिए अमेरिका और यूरोप में हिन्दू अध्यात्मवाद की बड़ी मांग है।

अच्छा, तो पश्चिम का प्रकृतिवाद क्या है? बात असल में

यह है कि इस समय दो संस्कृतियां आमनें-सामने युद्ध के लिए खड़ी हैं। प्राकृतिवाद की विचारधारा यह मानती है कि यदि हम सृष्टिकर्त्ता की सृष्टि को अन्वेषण द्वारा जान लेंगे, तो सृष्टिकर्त्ता परमेश्वर का सहज में ही पता लग जाएगा। इसी कारण सारा पश्चिमी संसार प्राकृतिक खोज द्वारा ईश्वर की तलाश कर रहा है। इसे ही 'अपरा' विद्या कहते हैं। यहूदी संस्कृति के लोग, मुसलमान और ईसाई ईश्वर की चर्चा करते तो हैं, लेकिन उसके विषय में कुछ नहीं जानते। यही वजह है कि ईसाई धर्म ने अपनें शिष्यों को कुछ भी शान्ति नहीं दी, उलटा उनके हृदय में अशांति की लहरें उत्पन्न कर दी हैं। परा और अपरा विद्या का यह संग्राम इस समय बड़े ज़ोरों पर है। प्रकृतिवादी पश्चिम ईश्वर की खोज करने की बजाय भोगवाद में अधिक फंसता चला जाता है, जिसके कारण वैज्ञानिक उन्नति आत्मदर्शन करानें के स्थान पर जीवन-संग्राम में सहायक हो रही है। हिन्दू धर्म अध्यात्मवादी है, क्योंकि इसका आदर्श आत्मतत्त्व की खोज करना रहा है। स्वाभाविक ही जिनका आदर्श ऐसा हो उनका मस्तिष्क भी वैसे ही साधनों की खोज करने लगेगा। परिणामस्वरूप अपनें व्यवहार-कौशल और जीवन-संग्राम में बहुत ढीले हो गए हैं। होना यह चाहिए कि प्रकृति को आत्मतत्त्व का साधन समझकर, उसकी उपेक्षा न कर, उसका यथायोग्य उपयोग कर, आत्मचिंतन की ओर बढ़ा जाए। बीच का मार्ग सर्वश्रेष्ठ होता है। प्राचीन काल के आर्यों ने प्रकृति की अवहेलना नहीं की थी; उन्होंने उसका तिरस्कार नहीं किया था, बल्कि विवेकपूर्वक उसका उपयोग करते थे। यही बात प्लेटो, अरस्तू और संत सुकरात ने भी कही है। भगवान् बुद्ध का भी मध्यम पथ था। बिगाड़ने वाली चीज़ तो 'अति' है जिसका सर्वत्र वर्जन किया गया है। भोगों का मारा हुआ पश्चिम आध्यात्मिक शांति तलाश कर रहा है और गुलामी में डूबे हुए हिन्दू पश्चिम

की स्वतंत्रता तलाश कर रहे हैं। अतएव यह युग सम्मिश्रण करने का है। हिन्दुओं को प्रकृतिवादी पश्चिम से बहुत कुछ सीखना है और प्रकृतिवादी पश्चिम को आध्यात्मिक शांति के लिए उपनिषदों की शरण लेनी पड़ेगी। यहूदी संस्कृति के आधार पर स्थित ईसाई और मुसलमानी मज़हबों को अपनी धर्मान्धता त्यागकर, बुद्धिवाद का जामा पहन, अध्यात्मवादी हिन्दुओं और पश्चिमी वैज्ञानिकों की शरण जाना पड़ेगा, तभी इनकी हिंसावृत्ति दूर हो सकेगी और इनमें आत्मिक ज्योति का प्रकाश होगा। यदि वे ऐसा न करेंगे तो उनकी मृत्यु अवश्यम्भावी है। परिवर्तनशील संसार में काल का डंडा बड़ा ज़बरदस्त है। जो समय की गति को पहचानकर चलते हैं, उन्हें उत्थान का पथ स्पष्ट दिखलाई देता है। अध्यात्मवादी हिन्दू बहुत शीघ्र ही चैतन्य हो सकते हैं, बहुत जल्दी संसार की जातियों से आगे बढ़ सकते हैं यदि इन्हें अच्छे नेता मिलें। आत्मिक तत्त्व की खोज में उत्थान के सब द्वार खुले रहते हैं, आवश्यकता केवल ठीक पथ-प्रदर्शक की होती है।

हिन्दू धर्म की ग्यारहवीं विशेषता

हिन्दू धर्म समाजवादी है, बोलशेविकवादी नहीं

जब से मनुष्य ने होश संभाला है, समाज का संगठन हुआ है, तब से रोटी का प्रश्न उसके सामने बराबर उपस्थित रहा है। प्रारम्भावस्था में जब सब जातियां मांस खाया करती थीं उस समय भी पेट भरने के लिए बराबर झगड़े होते थे। पशु ही समाज का धन माना जाता था और धनिक की पहचान उसके पास होने वाले

पशुओं की अधिक संख्या से की जाती थी। समय के परिवर्तन के साथ पेट भरने के साधन तो बदले लेकिन क्षुधा-निवृत्ति का जटिल सवाल मनुष्य से बराबर अपना हल मांगता रहा। ऐसा कौन-सा उपाय है जिससे सामाजिक सदस्यों में विषमता उत्पन्न न हो—सबको बराबर रोटी मिले, कोई भूखा न रहे। बस यह समस्या समाज के सामने थी। थोड़े-से आदमी अपने बल-बूते से, धोखा-धड़ी से, अपनी कुटिल नीति से पेट भरने के साधनों को अपने वश में कर लेते थे और बाकी सदस्यों को अपना दास बनाकर मनमाना शासन करते थे। ऐसी व्यवस्था ने ज़बरदस्त सामन्त-प्रथा का रूप धारण किया और बड़े-बड़े भूमिपति पृथ्वी माता के मालिक बनकर बलशाली सरदार बन गए।

उस समय तक मानो समाज के अधिकार-सम्बन्धी आंदोलन का जन्म नहीं हुआ था। पशुबल ही श्रेष्ठतम अधिकार माना जाता था और निर्बल लोग धैर्य से उसके सामने सिर झुकाते थे। शिक्षा-प्रचार के साथ-साथ जब जनता में जागृति हुई तो मनुष्य में सोचने का माद्दा आया और जनता अपनी अवस्था पर विचार करने लगी। उस समय कुछ नेता खड़े हुए। सामंतों से रूठे हुए थोड़ी शक्ति वाले कुछ सरदारों ने जनता का पक्ष लिया। इस प्रकार समाज दो दलों में विभक्त हो गया। परिणामस्वरूप सब को मौका मिलने लगा और बुद्धि ने समाज में ऊंचा स्थान पाया, तभी से व्यापार-युग की बुनियाद पड़ी। उस व्यापार-युग में सामंत-युग से भी अधिक धनराशि बुद्धिमान् समाज में एकत्र होने लगी और दूर-दूर देशों का पैसा बटोर-बटोरकर व्यापारी समाज के हाथ में आने लगा, तब नये सिरे से वही समस्या फिर खड़ी हो गई क्योंकि नये सिरे से मुट्ठी-भर व्यापारियों ने सारे समाज का धन संभालकर अधिकांश जनता को श्रमजीवी बना दिया। इन्हीं श्रमिकों में नये नेता खड़े हुए और कुछ रूठे हुए असफल

व्यापारी भी मज़दूरों का पक्ष लेकर उनमें धनवानों के विरुद्ध आंदोलन करने लगे। इसी आंदोलन को आज समाजवाद या साम्यवाद कहते हैं।

इस समाजवाद के अनुसार धन पैदा करनेवाले साधनों की व्यवस्था इस प्रकार से होनी चाहिए कि उनका लाभ समाज के सब सदस्यों को मिल सके। कोई भी व्यक्ति धन को जमा न करे बल्कि वह संग्रह राष्ट्र के अधिकार में हो जिसके स्रोत का जल सब लोग पी सकें। ऐसे सब कारणों को मिटा देना चाहिए जिनसे जायदाद का निर्माण होता है। मज़दूरी इस ढंग से मिलनी चाहिए कि समाज में विषमता हो ही न सके। केवल एक ही वर्ग —मज़दूर और किसान—समाज में रहे; दिमागी ऐयाशी मिटा दी जाए और सब प्रकार के श्रम मज़दूरी का रूप धारण कर एक ही तुला में तोले जाएं। सन्तान का लालन-पालन और शिक्षण माताओं के ऊपर न हो, बल्कि राष्ट्र उसका प्रबन्ध करे, और सब प्रकार के खेल-तमाशों का आनन्द सब सदस्य बराबर के अवकाश के साथ ले सकें। यूरोप के समाजवादियों ने रोटी के प्रश्न को ऐसे ही हल किया है और इसीका नाम उन्होंने 'साम्यवाद' और 'बोलशेविज़्म' रखा है।

मनुष्य में एक निर्बलता है : जब वह किसी वस्तु के विरोध में जाता है तो सीमा लांघकर 'अति' की ओर चला जाता है, और जब वह 'अति' उसे डंडा मारती है तो रबड़ की गेंद की तरह वह फिर पीछे लुढ़कता है और स्वाभाविक मध्यम-पथ (Moderation) तलाश करता है। यही दशा आज रूस में हुई है। रूसी ज़ार के नियमों से तंग हुए लोग बेतहाशा साम्यवाद की ओर भागे और लाखों नर-नारियों का संहार कर 'अति' के पास पहुंचे। उन्होंने समझा था कि मोक्ष-द्वार पा लिया, पर स्वार्थी मनुष्य तो स्वर्ग में जाकर भी गन्दगी फैला देता है। सो वहां भी उन्हें खूब डंडे पड़े

और अब रूस वालों के होश ठिकाने आ रहे हैं और वे बीच का रास्ता तलाश कर रहे हैं।

हिन्दू धर्म बीच का रास्ता बतलाता है। वह कहता है कि हमें अपनी संस्कृति को ऐसा बनाना चाहिए कि जिससे धन-संग्रह की रुचि उत्पन्न ही न हो सके। हमें, मनुष्य में स्थित जो स्वार्थ है, उसे मिटाने की योजना करनी चाहिए, क्योंकि मानव समाज का असली शत्रु वही स्वार्थ है। यह कानून से वश में नहीं आता, बल्कि और भी मक्कारी फैलाता है; यह पशुबल वश में नहीं आता, उलटा वैज्ञानिक पशुबल को जन्म देता है। प्राचीन काल के आर्य यह समझते थे कि उच्चतम संस्कृति ही सामाजिक स्वार्थ का गला घोंट सकती है। वे एक ही दिन में अथवा पांच शताब्दियों में इस परिणाम पर नहीं पहुंचे थे; लाखों वर्षों के अनुभव के बाद मनोविज्ञान से उन्होंने यह सीखा कि मनुष्य-स्वभाव बड़ा स्वार्थी और बड़ा कुटिल होता है। पशु-जन्मों के सारे दुर्गुणों के बीज इसके अन्दर विद्यमान रहते हैं। वे सिर्फ अनुकूल खाद की आशा में बैठे रहते हैं; अनुकूल खाद मिलते ही वे फौरन बढ़ते हैं और ईर्ष्या, द्वेष, मत्सर के रूप में प्लेग की तरह समाज में फैल जाते हैं। उन आर्यों ने यह कहा कि मानव-समाज में रोटी के प्रश्न के कारण अशान्ति नहीं होती, बल्कि पशु-जन्मों के इन बीजों के कारण सारा बखेडा खड़ा होता है। उनका समाजवाद धन उत्पन्न करनेवाले साधनों को वश में करने के सम्बन्ध में नहीं था, बल्कि इस पशु-मनुष्य को सच्चा मनुष्य बनाने में ही उनके समाजवाद का चमत्कार था। वे जानते थे कि शक्ति पाते ही मनुष्य आंखें बदल लेता है, वह मतवाला हो जाता है और अकड़खां बनकर अपने स्वभाव का परिचय देता है। इसी कारण उन्होंने समाज का नये ढंग से संगठन किया और आश्रमों की बुनियाद डाली। चार आश्रम—ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम और

संन्यासाश्रम—स्थापित कर उन्होंने समाजवाद का ऐसा अनोखा, ऐसा अनुपम आदर्श सभ्य संसार को दिया जो कि उनकी कीर्ति, उनकी विवेक-बुद्धि को सदा के लिए अमर कर गया। पशुबल इन्द्रियों के भोगों को चाहता है और वह भी अति मात्रा में। आर्य लोगों ने कहा कि समाजवाद का सबसे मुख्यतम साधन संयम होना चाहिए। यदि इसकी नींव पर सामाजिक व्यवस्था की जाएगी तो प्राकृतिक भोगों से मनुष्य को मुंह मोड़ना ही पड़ेगा। परिणामस्वरूप उसकी प्राकृतिक आवश्यकताएं कम होंगी, तब उसमें धन-संग्रह करने की बीमारी पैदा ही नहीं होगी, और वह 'अति' से अत्यन्त घृणा करेगा; उसका मार्ग मध्यम पथ होगा। जब उसकी आवश्यकताएं कम होंगी तो भला फिर वह दूसरों का धन क्यों छीनेगा! दूसरों के अधिकारों का दलन क्यों करेगा? तब सभी अधिकारी सदस्य अपने ईश्वरदत्त गुणों का विकास करने का अवसर पा सकेंगे। यदि कोई व्यवहार-कुशल व्यक्ति व्यापार में अधिक धनोपार्जन कर भी लेगा, तो भी अपने समाज की संस्कृति के अनुसार ही अपने जीवन को बनाएगा। वह अपने धन को बिना किसी दबाव के स्वयं ही प्रसन्नता से समाज-सेवा में लगा देगा, क्योंकि उसका समाज ऐसी सेवा करनेवाले को ही आदर की दृष्टि से देखता है। अतएव उन आर्यों ने अपने समाज का पहला आश्रम ब्रह्मचर्य निश्चित किया। आश्रम में बालक-बालिकाओं को संयम के आदर्शानुसार शिक्षा दी जाती थी—ऐसा संयम जो भोंडा न हो, बल्कि कलापूर्ण हो। उसमें संगीत, चित्रकला, नृत्यकला तथा स्थापत्यकला आदि सब विषय शामिल थे। जैनियों जैसा संयम वे नहीं मानते थे, बल्कि उन्हें यूनान जैसा संयम अभीष्ट था। भगवान् बुद्ध ने भी जैनियों जैसे त्याग का विरोध किया; क्योंकि वह 'अति' की ओर ले जाता है; उनका भी माध्यम पथ था। ब्रह्मचर्य आश्रम में संयम को स्वाधीनता का

दर्जा देकर विद्यार्थियों की जीवन-सम्बन्धी सब समस्याओं को हल करने की शिक्षा दी जाती थी। वे मानते थे कि मनुष्य का जन्म ज्ञान संचय करने के लिए ही हुआ है, इस कारण भोग तो केवल शरीर-रक्षा के लिए है, ताकि नीरोग मनुष्य अपने सारे समय को ज्ञान की खोज में लगा सके। कितना है सीखने को हमारे लिए! जब हम उस प्रभु के अनन्त ज्ञान-सागर के किनारे खड़े होकर दृष्टि दौड़ाते हैं तो हम अवाक् रह जाते हैं। ओहो, कितना सीखना है हम लोगों ने! वे कितने मूर्ख हैं जो भोगों में समय खोते हैं। ज्ञान का जो धन है वही स्थायी वस्तु है। इस तथ्य को समझकर आर्य लोगों ने अपनी सन्तान को सादा जीवन और उच्च विचार रखने की शिक्षा दी। उन्होंने सिखलाया कि प्रत्येक मनुष्य को प्रभु के ज्ञान-भंडार से कुछ न कुछ अवश्य निकालना चाहिए, तभी उसका जीवन सार्थक होगा। भला ऐसे आदर्शों में स्वार्थ के लिए स्थान कहां! हमने धीरे-धीरे पशुवृत्ति को जलाकर सात्त्विक वृत्ति की व्यापकता को बढ़ाना है, अतएव ब्रह्मचर्य आश्रम में ऐसे आदर्शों के साथ वानप्रस्थी विद्यार्थियों को पढाया करते थे। आजकल जो विषमता समाज में हमें दिखाई देती है वह केवल ज़रूरतों के बढ़ जाने के कारण है। ज़रूरतों के बढ़ जाने ने ही दानव रूपी स्वार्थ की शक्ति को इतना पराक्रमी बना दिया है कि आज हम उसके सामने असमर्थ जान पड़ते हैं। यदि हम आवश्यकताओं की वृद्धि के सिद्धान्त को छोड़ दें और उसे सभ्यता के विकास का साधन मानने से इन्कार करें तो हमारी सामाजिक समस्याएं सरल हो जाएं और हमें उच्च विचारों की ओर अपने मस्तिष्क को लगाने का अवसर मिले।

अच्छा, तो हमें बोलशेविज़्म क्या सिखलाता है? लेनिन के किन आदर्शों को लेकर रूस में आज भयंकर परिवर्तन हो रहा है? जब तक यह विषय स्पष्ट नहीं होगा तब तक हिन्दू-साम्यवाद

की महत्ता समझ में नहीं आ सकेगी। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, हिन्दू धर्म लाखों वर्षों के अनुभव का परिणाम है। इसके विपरीत अन्य सम्प्रदाय सामाजिक परिस्थितियों के नतीजे हैं, जो भीषण विषमताओं के विरोध में प्रतिक्रियाएं हैं। सिद्धान्त-रूप में रूसी बोलशेविज़्म का पिता तो कार्ल मार्क्स हुआ है, किन्तु उसके लिखे हुए उसूलों पर अपने व्यक्तित्व की छाप लगाकर एक नये सम्प्रदाय का निर्माता रूसी क्रांतिकारी लेनिन हुआ है, जिसे आज सोवियत रूस में पैगम्बर की तरह पूजा जाता है। जैसे मुसलमान लोग अपने पैगम्बर हज़रत मुहम्मद के लिए दीवाने हैं और उसके एक-एक शब्द को सच्चा मानकर उसके लिए पागल हो जाते हैं, ठीक उसी तरह आज रूस में लोग लेनिन के भक्त बन रहे हैं। लेनिन उस काल में पैदा हुआ था जब ज़ार द्वारा रूस में निर्दयतापूर्वक नवीन विचारों की हत्या का प्रयत्न किया जा रहा था; जब नवयुवक और नवयुवतियां क्रांति का झण्डा उठाकर आततायियों के विरुद्ध खड़ी हुई थीं; जब हज़ारों माता-पिता के दुलारे साइबेरिया के बीहड़ मैदान में कठोर यातनाएं सह रहे थे—वह था समय शैतानी क्रूरता का! ऐसे ही समय में लेनिन के बड़े भाई की रूसी बादशाह के हुक्म से हत्या की गई। कैसी चोट लगी होगी छोटे लेनिन के दिल पर इस घटना से, जिसने अपनी माता को खून के आंसू बहाते हुए देखा होगा। बदले की प्रचण्ड आग इस 18 वर्षीय तरुण के हृदय में भभक उठी। पुरानी रूढ़ियां जड़ से उखाड़ने का इसने निश्चय किया। मध्यम वृत्ति के सद्गृहस्थी के आदर्शों को मिटा देने का संकल्प इसने कर डाला। धन-सम्बन्धी सामाजिक विषमताओं का मूलोच्छेद करने की इसने प्रतिज्ञा की और मनुष्य के व्यक्तित्व को मिटाकर उसे समष्टि का रूप देनें का इसने व्रत लिया। हज़ारों वर्षों की जमी हुई संस्कृति, सामाजिक रिवाज और धार्मिक प्रथाएं नष्ट करना

हंसी-दिल्लगी का काम नहीं था, और उससे भी बढ़कर खुदा और उसके मसीहा के विरुद्ध जिहाद करने की भीषण शपथ का पालन! ऐसी प्रतिज्ञाओं के साथ लेनिन अपने भाई का बदला लेने के लिए खड़ा हुआ। उसका जीवन एक उच्चतम शिक्षा देता है। और वह है मनुष्य के अन्दर छिपी हुई शक्तियों का चमत्कार। कोई काम हाड़-पिंजरवाले इस मनुष्य के लिए असम्भव नहीं। बस, लेनिन उठा और उसने सन् 1914 के यूरोपीय महासमर द्वारा दिए हुए दैवी अवसर का लाभ ले लिया। जब ज़ार के विरुद्ध पराजित रूसी सेनाएं क्रांति की इच्छा कर रही थीं, तब लेनिन ने अपने साथियों की सहायता से सन् 1917 में उनका नेतृत्व किया और सोवियत रूस की बुनियाद डाली। चलिए, आपको रूस में ले चलें और एक द्रष्टा के अनुभव द्वारा प्रचलित बोलशेविज़्म की झलक दिखलाएं:

रूसी क्रांति ने वहां के समाज में क्रांति कर दी है। वृद्ध नर-नारी ग्रामीण किसान तो अभी तक अपने प्राचीन संस्कारों की रक्षा किए हुए जीवन के दिन पूरे कर रहे हैं, लेकिन नई पौद बिलकुल बदल गई है। वह अपने दृष्टिकोण में पुराने रूसियों से बिलकुल भिन्न है। आप उसे देखकर पुराने रूस का अनुमान भी नहीं लगा सकते। उन्नीस वर्षों के बोलशेविक शासन ने रूस में एक नई नस्ल (Breed) अर्थात् लेनिन-नस्ल उत्पन्न कर दी है। उसका जीवन अपने पूर्वजों से बिलकुल निराला, कठिन, व्यायाम-नियमों से तपा हुआ, किन्तु चरित्र-भ्रष्ट है, जिसका कोई नैतिक आदर्श नहीं—अर्थात् जो सत्पुरुषों द्वारा बतलाए हुए धर्माचरणों से घृणा करे और लेनिन के बतलाए हुए पन्थ को ही मुक्ति का द्वार समझने वाली हो। बाहर की दुनिया बोलशेविज़्म शब्द का अर्थ एक क्रान्तिकारी पोलिटिकल फिलासफी मानती है, लेकिन आज के रूस का क्रियात्मक रूप बोलशेविज़्म मानवी

जीवनादर्श से नितान्त अनोखा है। इतिहास में जिस इन्सानी आदर्श से हम अब तक परिचित हैं, बोलशेविक कल्पना उससे कोई समता नहीं रखती; यह इतिहास में एक नया प्रयोग है—मनुष्य-समष्टि के रूप में जहां व्यक्तित्व का सर्वनाश हो। लेनिन जिस काल में पैदा हुआ था, वह थी व्यक्तिवाद की भोंडी अति; अब उसके बिलकुल विपरीत रूस ने पकड़ी है समष्टिवाद की क्रूर चरम सीमा। अपने ग्रन्थों में कार्ल मार्क्स ने जिस समष्टि-अधीनस्थ व्यक्ति का खाका खींचा है, लेनिन के भक्तों ने उस स्वप्न को आज व्यावहारिक रूप में सिद्ध कर दिया है! यही कारण है कि बोलशेविक लोग लेनिन को अपना खुदा और उसके सिद्धान्तों को अपना कुरान मानते हैं।

ऐसे आदर्शों को सिद्ध करने के लिए लेनिन-भक्तों ने पुराने विचारों को निर्दयतापूर्वक मिटा देना आवश्यक समझा। पहला धावा उनका अमीरों, जमींदारों और मध्यवृत्ति के लोगों पर हुआ; उन्होंने उनकी ताकत को मिटा दिया; लाखों को तलवार के घाट उतार दिया; हजारों जान लेकर बिलखते हुए अपने प्यारे देश से सदा के लिए निर्वासित हो गए। जो बच गए उन्हें अपने बोलशेविक आदर्श का गुलाम बनाकर सोवियत राष्ट्र का अंग बनाया और उनके मानवी अधिकारों का अपहरण कर उन्हें समष्टि का क्रीत दास बना दिया। इससे निपटकर वे मजहब के किले पर पहुंचे और उसपर धुआंधार गोलाबारी प्रारम्भ की। रूस में मुसलमानों की आबादी भी काफी है। इसलिए वे भी इस आक्रमण की लपेट में आ गए। जिन मस्जिदों में सैकड़ों वर्षों से नमाजें पढ़ी जाती थीं, उनकी ईंट से ईंट बजा दी गई—नये बोलशेविक आदर्श की सिद्धि के लिए! इन धावों के प्रारम्भिक रूप तो अत्यन्त उग्र और संहारकारी थे—हत्या, निर्वासन, कालकोठरी, पादरियों और इमामों को देश निकाला और

गिरजों और मस्जिदों का विध्वंस। पर जब इससे भी इनकी तृप्ति न हुई तब इन्होंने धार्मिक संस्थाओं द्वारा चलाए हुए सैकड़ों वर्षों के संस्कारों को जड़ से उखाड़ने का संकल्प किया। प्राचीन संस्कृति को समूल नष्ट कर, नई बोलशेविक संस्कृति पैदा करने की योजना तैयार की गई। इसका प्रारम्भ हुआ गृहस्थाश्रम को सर्वथा मिटाकर। वह कैसे? सुनिए—

गृहस्थाश्रम सब आश्रमों, सभी सुन्दर विचारों, आदर्श और उन्नत संस्कारों का स्रोत है। बोलशेविक नेताओं ने इसकी जड़ पर कुठाराघात करने का इरादा किया जिससे धार्मिक विश्वासों का अन्त हो जाए—न रहेगा बांस न बजेगी बांसुरी। जब गृहस्थाश्रम रहेगा ही नहीं, नई पौद के बच्चे माता-पिता के पुराने प्रभाव में आएंगे ही नहीं, जब वे गर्भ से निकलते ही बोलशेविक दाइयों के हवाले होंगे, जहां उन्हें बोलशेविक संस्कारों में पाला जाएगा, तभी सच्चे तौर पर लेनिन का आदर्श सिद्ध हो सकेगा। इस संकल्प को पूरा करने के लिए रूस में स्थान-स्थान पर जच्चाघर बनाए गए, जहां गर्भवती स्त्रियां बच्चे जनती हैं और नीरोग होने पर अपनी मजदूरी पर चली जाती हैं। उनकी सन्तान का उनके साथ कोई लगाव, कोई सम्बन्ध नहीं रहता। मातृ-स्नेह नाम की कोई वस्तु बोलशेविक भाषा में नहीं मानी जाती। वे बालक-बालिकाएं सोवियत राष्ट्र की सम्पत्ति हैं, उसीका उनपर अधिकार है। वह जैसा चाहे उन्हें बनाए, मां-बाप कुछ नहीं कर सकते। इसी नियम के अनुसार शादी की पवित्रता को नष्ट कर दिया गया, ताकि युवा और युवतियां स्वच्छन्दता से पशुओं की तरह भोग कर सकें, किसी प्रकार की बाधा उनकी कामेच्छा में न हो, इसलिए विवाह-बन्धन को अत्यन्त ढीला कर दिया गया। साधारण तौर पर रजिस्ट्रार के दफ्तर में जाकर पति-पत्नी बनने के लिए नाम लिखा देना ही काफी है, और जब

इच्छा हो सम्बन्ध-विच्छेद कर नया सम्बन्ध किया जा सकता है—किसी प्रकार की अड़चन इस विषय में नहीं। भ्रूण-हत्या का कोई कारण उपस्थित नहीं हो सकता। जब स्त्री गर्भवती हो तो सरकारी जच्चाखाने में जाकर बच्चा जन आए, और अपना बोझ हल्का कर ले। उसकी सन्तान के प्रति कोई ज़िम्मेदारी नहीं। उसकी उसे कोई चिन्ता नहीं। इस प्रकार बोलशेविक लोगों ने पुराने प्रभाव से बिलकुल अलग नवजात शिशुओं को अपने ढंग की तालीम देकर बड़ा किया है और उन्हें लेनिन के सिद्धान्तों की भली प्रकार शिक्षा-दीक्षा दी है। लेनिन ही उनका पथ-प्रदर्शक, वही उनकी माता, वही उनका पिता और आचार्य है। ये बालक-बालिकाएं उसीके सिद्धान्तों को श्रेष्ठतम मानती हैं। बोलशेविक लोग चाहते थे कि रूस की नई पीढ़ी के नागरिकों को पुराने स्वभाव की गुलामी से बिलकुल मुक्त कर दिया जाए, सो अब वे लोग नये आदर्श रचने लगे।

मज़हबी खुदा तो अदृश्य है, वह इन्द्रियगोचर नहीं, बोलशेविकों ने उसके स्थान पर मशीन की स्थापना की है और उसीको रूस का खुदा बनाया है। इनका वह खुदा आंखों से देखा जा सकता है और कानों से उसकी आवाज़ सुनाई देती है। रूसी स्वभावतः ही अन्धविश्वासी होते हैं और अपने विश्वास के लिए दीवाने बन जाते हैं। उसी गुण के अनुसार ये नये बोलशेविक बच्चे अपने मज़हब के लिए मर मिटने को तैयार हैं। यद्यपि इन लोगों ने ईसाई और मुसलमानी सन्त-फकीरों को कब्रों से निकालकर अपने अजायबघरों में कुत्ते, बिल्ली और चूहों की श्रेणियों में स्थान दिया है, लेकिन लेनिन के मृत शरीर को बड़ी श्रद्धा से संभालकर ऐसी उत्तमता से रखा है ताकि संसार के लोग उसके दर्शन कर सकें। यह है इनका पक्षपातपूर्ण व्यवहार, असहनशीलता की अविवेकिनी अति! क्रेमलिन नगर आज बोलशेविक सम्प्रदाय

का मक्का है, जहां लेनिन की मूर्ति एक भव्य मन्दिर में विद्यमान है। गिरजों का विध्वंस कर इन लेनिन-दीवानों ने ईसाई सन्तों के हृदय तो छिन्न-भिन्न कर दिए, लेकिन अपने खुदा का मस्तिष्क बड़े आदर से संभालकर रखा है, आज रूस में लेनिन ही सत्यज्ञान-स्रोत माना जाता है, उसीके सिद्धान्त, उक्तियां और वचन इलहाम की तरह शिरोधार्य किए जाते हैं। लेनिन जिस ढंग का नमूना मनुष्य को बनाना चाहता था, वर्तमान सोवियत राष्ट्र उसी ढांचे में नई पीढ़ी के तरुण और तरुणियों को ढाल रहा है। उनका व्यक्तित्व मिटाकर प्रारम्भ से ही समष्टि के रूप में उन्हें शिक्षा दी जाती है। कोई बच्चा अकेला रहने नहीं पाता; इकट्ठे खाना, सोना, काम करना, खेलना, कूदना, पढ़ना, लिखना आदि सभी कार्य समष्टि के रूप में मशीन की तरह होते हैं। ज्यों-ज्यों बच्चे बड़े होते जाते हैं, त्यों-त्यों उन्हें शिक्षा भी बोलशेविक योजना के अनुसार दी जाती है। लेनिन सम्प्रदाय के अतिरिक्त सब मज़हबों की भद्द उड़ाई जाती है; उनके दोषों को बढ़ाकर बच्चों के कान भरे जाते हैं, सभी प्राचीन आदर्शों को नगण्य बतलाकर केवल लेनिन की महत्ता, उसीके गुणगान और उसीके आदर्शों की महिमा इन बच्चों के कोमल हृदयों पर डाली जाती है ताकि उनपर पक्का बोलशेविक रंग चढ़ जाए और वे फोनोग्राफ की तरह बोलशेविज़्म का यही राग अलापें। स्वयं सोचने का माद्दा उनमें बिलकुल नहीं रहता और वे केवल अपने कट्टर शिक्षकों के उपदेशों की उपज-मात्र बन जाते हैं। स्वतन्त्र विचार वे कर नहीं सकते। उनके मस्तिष्क में लेनिन का वातावरण व्यापक हो जाता है—वही लाल आदर्श, लाल फौजी सिपाही—पूंजीपतियों का संहार करने-वाले, मशीनों की धक-धक, फैक्टरियों की धकापेल। छोटी ही उमर में इन बालक-बालिकाओं को कम्युनिस्ट संघों का सदस्य बनाकर उनके गीत, मॉटो और जयकारे सिखलाए जाते हैं;

नास्तिकता की शिक्षा दी जाती है और कठिन शारीरिक व्यायाम कराया जाता है। रूस में केवल शरीर की पूजा है, आत्मा को उठाकर ताक में रख दिया गया है। जब मज़दूरों का मई महीने का महोत्सव आता है तो ये बच्चे झण्डे-झण्डियां लेकर जुलूस के रूप में नगरों में घूमते हैं; रूसी क्रान्ति के गीत गाते हैं और बोलशेविक जयकारे लगाते हैं। वे मशीन की तरह अर्थों को न समझकर इन सब कामों को करते हैं। इस प्रकार रूस के युवक और युवतियां बोलशेविक वातावरण में पल रहे हैं। उनके चारों ओर बोलशेविज़्म के सिवाय दूसरी कोई ज्ञान-गाथा, किसी महा-पुरुष के उच्च सिद्धान्त, किसीकी धार्मिक शिक्षा आदि नहीं लाई जाती। वे केवल एक ही रंग में, एक ही ख्याल में और एक ही आदर्श में रंगे जाते हैं; और वह है लेनिन का बोलशेविक रंग। किसी गली-कूचे, किसी सड़क के कोने, किसी बाज़ार के नुक्कड़ और किसी चौराहे के बीच आप जाइए, सभी स्थानों पर बोल-शेविक प्रोपेगेण्डा की धूम आप पाएंगे। पुस्तकालयों में वैसी ही पत्र-पत्रिकाएं, वैसी ही पुस्तकें और नाटक, दीवारों पर वैसे ही आदर्श वाक्य और मिलने वालों की वैसी ही बातचीत, बस सिवाय बोलशेविक महिमा के दूसरी कोई बात नहीं। सारे संसार के विरुद्ध एक नई लाल फौज सोवियत रूस तैयार कर रहा है जिसका लक्ष्य सब महापुरुषों, आचार्यों और संत-महात्माओं की पुनीत स्मृतियों को मिटाकर केवल लेनिन-मज़हब की स्थापना करना है। सिनेमा और थियेटरों में वही द्वेषपूर्ण बातें दिखाई जाती हैं। प्रोपेगेण्डा के ज़रिये उन्हें फैक्टरियों में भर्ती कर देश के कच्चे और पक्के माल की उपज बढ़ाने का भरपूर यत्न किया जा रहा है। बोलशेविक व्याख्यानों में उनका जाना लाज़िमी है। सभा-सोसाइटियों और क्लबों में भरती कर उन्हें नित्यप्रति किसी न किसी ड्रिल में अथवा कम्युनिस्ट जुलूस में बोलशेविक नेताओं

की गर्मागर्म स्पीचें सुनाई जाती हैं। संक्षेप में सोवियत राष्ट्र द्वारा प्रचंड प्रोपेगेण्डा कम्युनिस्ट शिक्षा के लिए किया जाता है, ताकि रूस में बोलशेविक आदर्शों को सफलता मिले।

लेनिन की यह धारणा थी कि उसका आदर्श हज़ारों वर्षों की गुलामी को नष्ट कर मानव-समाज को सदा के लिए स्वतन्त्र कर देगा, लेकिन कैसी हिमाकत करता है यह छोटा-सा मनुष्य! महाबली काल सामने खड़ा हुआ उसे मुंह चिढ़ाता है, और कहता है—

"निस्संदेह, तू पुराने बादशाहों, पूंजीपतियों और धर्माचार्यों की गुलामी से छूट गया है, लेकिन स्मरण रख! तू एक दासता से छूटकर दूसरी दासता में फंस गया है। पहले तू अमीरों का गुलाम था, अब तू मशीन के शिकञ्जे में है। आज तू बड़े उत्साह से इस शिकञ्जे को चूमता है, इसे अपना सर्वस्व मानता और इसे रोटी देनेवाला समझकर इसकी पूजा करता है। अरे मूर्ख! यह लोहा तुझे कभी शान्ति नहीं दे सकता। एक दिन वह आएगा जब तुझे अपनी भूल दारुण दुःख देगी, जब तू अपने-आपको मशीन के शिकञ्जे में जकड़ा हुआ अनुभव करेगा। उस समय तेरी आत्मा क्रोधाग्नि से जलकर विरोध में खड़ी होगी और तेरी इन पंचवर्षीय योजनाओं के फलों को जला देगी। तूने एक गुलामी को हटाकर दूसरी गुलामी का चोला पहन लिया है। पहले तू रूसी ज़ार का गुलाम था और अब रूसी तानाशाह का क्रीत दास बन गया है।

जिस लेनिन ने अपने भाई की हत्या से संतप्त होकर मानव-समाज के प्राचीन आदर्शों के विरुद्ध बदला लेनेवाला एक नया समाज खड़ा किया है, समय आएगा कि वही समाज अपनी लोहे की ज़ंजीरों को तोड़कर, फैक्टरियों को नष्ट-भ्रष्ट कर, मशीनों को तोड़-मरोड़ लेनिन की मूर्ति के टुकड़े-टुकड़े कर देगा ताकि उसकी आत्मा स्वतन्त्र हो; वह स्वयं सोचना सीखे, वह समष्टि

का गुलाम न हो, बल्कि समष्टि के ज्ञानागार में अपना स्वतन्त्र हिस्सा देने वाला हो। आज जो बोलशेविक समाज प्रतिकार की आग में जलकर हिंसावृत्ति से ओत-प्रोत हो रहा है, आज जो पागलों की तरह दिन-रात मशीनें चलाकर पक्का माल तैयार कर रहा है, आज जो स्वच्छन्दता से भोग-विलास में रत होकर अस्वाभाविक बच्चे पैदा करता है, वही बोलशेविक समाज शीघ्र ही अपनी इस कड़ी श्रमिक-सामाजिक व्यवस्था से तंग आ जाएगा; उसके अंग-प्रत्यंग में पीड़ा होगी, तब उसकी आंखें खुलेंगी और वह शोक-विह्वल होकर उस पैगम्बर को हज़ार बार कोसेगी जिसने बदला लेनें की भावना से ओतप्रोत होकर दासता-पूर्ण आदर्श समाज को दिया, और व्यक्ति की स्वतन्त्र आत्मा को समष्टि के पिंजरे में बन्द कर इसका विकास रोक दिया। उसी समय रूसी जनता दानवी रूप धारण कर खड़ी होगी और बोलशेविक आदर्शों का नामोनिशान मिटाकर उस मध्यम पथ की तलाश करेगी, जो सात्त्विक शांति प्रदान करता है और जो आत्माओं को सुधा रस पान कराता है। अध्यात्मवाद का वही सच्चा मार्ग, जो समता का पथ है, जिसमें संसार के सभी नर-नारियों को अभयदान है और जो ईश्वरीय शक्तियों के विकास का अवसर देता है—वही हिन्दू-साम्यवाद है। उसीके विषय में अब हम लिखते हैं ताकि हमारे पाठक उनका मुकाबला वर्तमान रूसी बोलशेविक समाज से कर सकें और स्वयं इस बात का निर्णयकरें कि संसार को स्वतन्त्र कराने वाली कौन-सी योजना है।

हम पहले कह चुके हैं कि हिन्दू धर्म के निर्माताओं ने रोटी के प्रश्न की महत्ता को भली प्रकार अनुभव कर अत्यन्त सरल साधनों द्वारा उसकी व्यवस्था समाज में कर दी थी। उन्होंने सबसे पहले मानव-जीवन के आदर्श की तलाश की। यूरोप के वैज्ञानिकों की तरह प्राकृतिक प्रयोगों द्वारा वे भी इस परिणाम

पर पहुंचे कि मानव-जीवन अनन्त ज्ञान की खोज के लिए है और वह खोज किसी अकेले मनुष्य के लिए नहीं, वल्कि सारे समाज का सम्मिलित आदर्श है। प्रत्येक व्यक्ति को किसी न किसी रूप में उस ज्ञान की खोज में सहायता करनी चाहिए, क्योंकि वह ज्ञान ही एक अमर वस्तु है। जो सदस्य उस अन्वेषण में मदद नहीं करता, आलसी है, अयोग्य है, अंग-प्रत्यंग से शक्तिहीन है या कोई असाध्य व्याधियुक्त है, ऐसे व्यक्तियों के लिए समाज में कोई स्थान नहीं। वे खेत में उगनेवाले उन निकम्मे पौधों की तरह हैं जो नीरोग खेती को हानि पहुंचाते हैं। ज्ञान के इस आदर्शानुसार उन्होंने समाज की व्यवस्था की और उसके लिए एक योजना तैयार की। ज्ञान का शत्रु है भोग-विलास, कामेच्छा की अति और स्वच्छन्दता का जीवन। इस शत्रु की उन्नति होती है, आवश्यकताओं के बढ़ाने से; इसका नाश होता है संयम द्वारा। ज्ञान में सहायता देनेवाले उस संयम को उन्होंने अपनी सभा का सभापति बनाया और उसके आदेशानुसार आवश्यकताओं की कमी, अर्थात् बिलकुल सादे जीवन को प्रत्येक सदस्य के लिए कर्तव्य बना दिया। इतना कह देने से रोटी का प्रश्न बहुत कुछ हल हो गया। बाकी जो कसर रह गई उसे उन्होंने गृहस्थाश्रम के सुन्दर नियम बनाकर पूरा कर दिया। जीवन के लिए सौ वर्ष की अवधि उन्होंने स्थिर की; एक औसत निकाल ली, उसके अनुसार चार आश्रम बनाए। पहले आश्रम में विद्योपार्जन करनेवाले छात्र-छात्राओं की व्यवस्था की गई। जितने अनुभवी वानप्रस्थी सदस्य वैज्ञानिकों की तरह जंगलों के बीच नीरोग जलवायु में अपने आश्रम बनाए बैठे थे, वहां पर पढ़ाई का प्रबन्ध किया गया। अपनी-अपनी रुचि के अनुसार विद्यार्थी को गुरु मिल जाता था। जो शिल्पविद्या सीखना चाहते थे उनके लिए भी पूरी व्यवस्था थी, और राष्ट्र उन वानप्रस्थी आचार्यों

को सब सुविधाएं और साधन जुटा देता था, ताकि विद्यार्थियों का कोई बोझा उनपर न पड़े और आश्रम स्वतन्त्र ज्ञानागार बने रहें।

इन आश्रमों में अपनी पढ़ाई खत्म करने के बाद जब ब्रह्मचारी गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते थे तो सादा जीवन और ज्ञान-प्राप्ति का आदर्श उनके सामने रहता था। इस कारण वे संयमित ढंग से धनोपार्जन करते हुए 50 वर्ष तक सुखपूर्वक अपना जीवन बिताते थे। आश्रम में वे अतिथि-यज्ञ को अपना धर्म समझते थे। और कोई भूखा उनके द्वार पर से फटकार खाकर नहीं जा सकता था। जीवन में ऐसे समय प्रायः आ जाते हैं जब मनुष्य के पास खाने को नहीं रहता, व्यापार मन्दा हो जाता है, पैसा चोरी में चला जाता है, भौतिक आपदाओं के कारण घर-द्वार नष्ट हो जाते हैं, ऐसे ही समय के लिए अतिथि-यज्ञ रामबाण औषधि है। उस काल के लोग अपरिग्रह के उपासक थे। वे दान लेना बुरा समझते थे। भीख मांगना उनके लिए मर जाने के बराबर था। वह था आत्मनिर्भरता और आत्मसम्मान का समय। ऐसे समय में भी दैवी आपदाएं आ सकती हैं और कुछ सदस्य रोटी के लिए लाचार हो सकते हैं; उनका विकास न रुके, वे ज्ञान-अन्वेषण-पथ पर बराबर बढ़ सकें, इसलिए अतिथि-यज्ञ प्रत्येक गृहस्थ का धार्मिक कर्तव्य माना जाता था—दूसरे पर कोई एहसान नहीं। ऐसे बलिदान से आत्मा उन्नत होती है और उसे सच्चा आनन्द मिलता है। इस व्यवस्था से समाज में कोई विषमता आ नहीं सकती, रोटी के लिए मारामारी नहीं हो सकती और सब प्रकार की वैज्ञानिक उन्नति भी बड़े पैमाने पर की जा सकती है। मशीनों के आविष्कार दुःखदायी नहीं; दुःखदायी है भोगवृत्ति, जिसकी तृप्ति के लिए हम उन मशीनों के गुलाम बन जाते हैं और वे आविष्कार आवश्यकताओं को बढ़ाने में प्रचंड

साधन बनते हैं। तब वे मशीनें ईश्वरीय विभूति होने के बजाय दैवी अभिशाप सिद्ध होती हैं। इन बातों को प्राचीन काल के आर्य जानते थे, इस कारण उन्होंने गृहस्थाश्रम के बाद वानप्रस्थाश्रम को रखा।

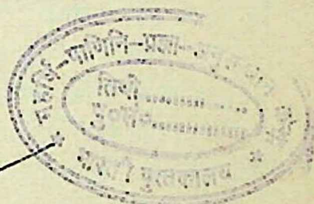
जीवन के 50 वर्ष पूरे हो चुकने के बाद वानप्रस्थी बनना ही चाहिए, तभी तो दूसरे नवयुवकों को धनोपार्जन के अवसर मिल सकते हैं। जब आप 60-70 वर्षों की आयु पाकर धनोपार्जन में जुटे रहते हैं, सभा-सोसाइटियों के ओहदे नहीं छोड़ते और बराबर बच्चे पैदा करते जाते हैं, तो बेचारे नवयुवक किस गढ़े में जाकर गिरेंगे—उन्हें भी तो अवसर मिलना चाहिए। 50 वर्ष तक गृहस्थाश्रम, उसके संयमित धन्धे, उसका नियमानुकूल पालन करें, तब अपनी पत्नी के साथ किसी रमणीक वन में जाकर आश्रमवासी बनिए और प्रकृति माता से बातें कीजिए; विद्यार्थियों को पढ़ाइए; समाज के बच्चों को अपना बच्चा बनाइए। आह! कैसा सुन्दर है यह आदर्श!

जब 25 वर्ष तक समाज-सेवा हो जाए, जीवन की समस्याओं पर गम्भीरतापूर्वक विचार हो चुके, पठन-पाठन द्वारा ज्ञान-विषय खूब मंज जाए और तप का जीवन पूरा हो चुके, तो वृद्धा गृहिणी को उस आश्रम में छोड़कर परिव्राजक बन जाइए। यह है संन्यास-मार्ग। तब आपका धर्म ग्रामों, कस्बों और नगरों में घूमकर सामाजिक और राष्ट्र-धर्म का उपदेश देना है; लोगों को अपने अनुभव बतलाना है; उनकी शंकाओं का समाधान करना है; पारस्परिक झगड़ों को निपटाना है; सामाजिक मर्यादा को सिखलाना है और अपनी संस्कृति की सुगन्धि को फैलाना है। इतना ही नहीं, जो ज्ञान आपने प्राप्त किया है, जो अनुभव आपको मिला है उसे दूसरे संन्यासियों के अनुभव से मिलाइए। अपने-आपको कभी पूर्ण ज्ञानी न समझिए बल्कि अत्यन्त विनीत

भाव से सब परिव्राजक लोग वर्षा ऋतु में एक स्थान पर एकत्र हों, विचार-विनिमय करें और समय के अनुसार जनता को उन्नति का मार्ग दिखलाएं। इस व्यवस्था में शासित समाज अनन्त ज्ञान की खोज में कैसी मुस्तैदी से रह सकता है! झगड़े-फसाद के लिए कोई गुंजाइश नहीं, अशान्ति के लिए कोई कारण नहीं; युद्धों की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

प्रभु के इस उद्यान में हमारे लिए खाने-पीने को काफी है, हमें केवल विवेक से काम लेना है, और ऐसी व्यवस्था करनी है जिसके द्वारा निकम्मे पौधों का नाश हो—वे खाद बन जाएं—और नीरोग बच्चे प्रभु के अनन्त ज्ञान-सागर में से ज्ञान-रत्न निकालें। पशुओं की तरह पेट भरकर जीना मानवीय आदर्श नहीं। रूस के लेनिन-भक्तों ने गलत आदर्श पकड़ लिया है। वे इस सुहावने उद्यान को हिंसक पशुओं की तरह लाल बना रहे हैं। हमारा मार्ग अध्यात्मवाद का है। हमें पशुपन से निकलकर मनुष्यपन की ओर जाना है और मनुष्यपन से ईश्वरत्व पद की प्राप्ति करनी है। मशीनें कपड़े-लत्ते, भोग-विलास की सामग्री, खाने का सामान पैदा करेंगी—मनुष्य को चाहिए कितना? दो रोटी और दो कपड़े। इतने के लिए यह सारा स्वांग, यह सारी मारामारी! असली चीज तो प्रभु के अगाध मान की प्राप्ति है, जिसके लिए हमारा परम पुरुषार्थ होना चाहिए। इन बातों पर गम्भीरता से विचार कर हमारे पूर्वजों ने आश्रम की अद्वितीय योजना निकाली थी। रूस ने अपने आदर्श की सिद्धि के लिए लाखों नर-नारियों का संहार किया, खून की नदियां बहा दीं, समाज को मशीन कर दिया और अरबों रुपये की सपत्ति धूल में मिला दी; और परिणाम? अशांति, राग-द्वेष! यदि कोई स्वतन्त्र देश हमारे उन प्राचीन आर्यों की इस आश्रम-योजना को लेकर रूस की अपेक्षा आधा पुरुषार्थ भी करे; इस योजना को

लेकर एक बार आज़माकर देखे तो संसार को हमारे ऋषियों की सामाजिक व्यवस्था का अद्भुत चमत्कार दिखलाई दे। उन्हें भली प्रकार विदित हो जाए कि कार्ल मार्क्स और लेनिन के 'इज़्म' साम्यवाद के शत्रु हैं। सच्चा साम्यवाद सिखलाने वाला केवल एक हिन्दू धर्म है। उसीकी आश्रम-योजना सब आर्थिक प्रश्नों को हल कर सकती है और समाज में शांति की स्थापना कर मनुष्य को विकास-पथ पर ले जा सकती है।



हिन्दू धर्म की बारहवीं विशेषता

हिन्दू धर्म श्रद्धावादी है, दासतावादी नहीं

यों तो हिन्दू धर्म की विशेषताओं के विषय में विस्तार से लिखने की क्षमता मुझमें कहां—यह तो लाखों वर्षों के अनुभवों का रत्नागार है—पर अपने देश की शिक्षित जनता तथा विदेश के विद्वानों के सामने अपने हृदय के उद्गार इस सम्बन्ध में लिखकर अपना किंचित्-मात्र का कर्तव्य-पालन किया है। ग्यारह विशेषताएं ऊपर लिखी जा चुकी हैं, अब इस अंतिम बारहवीं विशेषता का गुणगान कर मैं लेखनी को विश्राम दूंगा। मैं समझता हूं कि इन बारह विशेषताओं के जान लेने से पक्षपात-रहित पाठकों को हिन्दू धर्म का महत्त्व भली प्रकार विदित हो जाएगा। अच्छा, तो यह बारहवीं विशेषता है क्या ?

हमारे कई एक पाठक शायद यह पूछ बैठें कि जब हिन्दू धर्म बुद्धिवादी है, गुरुडम को नहीं मानता, पैगम्बरवाद का विरोधी है, अन्धभक्ति पर विश्वास नहीं करता और भाग्य के भरोसे को

ठुकराता है तो फिर इसमें श्रद्धा के लिए स्थान कहां रह जाता है ! ऐसा हिन्दू धर्म तो केवल तर्कवाद ही भासित होगा, क्योंकि इसमें अन्धभक्ति के लिए कोई स्थान नहीं । इस प्रकार के आक्षेपों का निराकरण करने के लिए हमने इस विशेषता को आखिर में रखा है, ताकि हमारे प्यारे पाठक अत्यन्त श्रद्धा से इन विशेषताओं को शिरोधार्य करें। हिन्दू धर्म सिखलाता है—'श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्'—अर्थात् श्रद्धावान् को ही ज्ञान की प्राप्ति होती है; जब हिन्दू धर्म ज्ञानवादी है तो वह श्रद्धा से अलग कैसे हो सकता है ? जब हम किसी विद्वान् से उपदेश लेने के लिए जाते हैं, किसी महात्मा के दर्शनार्थ यात्रा करते हैं अथवा अपने किसी पूज्य वयोवृद्ध रिश्तेदारों से मिलते हैं तो मर्यादानुसार अवश्य कुछ न कुछ भेंट लेकर जाते हैं—यह है श्रद्धा का चिह्न और हिन्दुओं की प्राचीन संस्कृति का एक सुगन्धित पुष्प । खेद है कि देश में बुरी शिक्षा के प्रचार के कारण हमारा शिक्षित समुदाय हिन्दू संस्कृति के इन सद्गुणों को छोड़ बैठा है। लेकिन जो पुराने सनातनधर्मी हैं, वे अब भी अपने पूर्वजों की संस्कृति का श्रद्धा से पालन करते हैं। जब हम किसी विद्वान् के पास उपदेश के लिए जाते हैं तो स्वाभाविक ही जितनी मात्रा में हमारे अन्तःकरण में उसके प्रति श्रद्धा होगी, उतना ही प्रभाव हमारे हृदय पर उसके वाक्यों का पड़ेगा। जब हम पहले से ही अश्रद्धा भाव से जाएंगे, वितण्डा करने की इच्छा रखेंगे, शुष्क तर्क के अरबी घोड़े पर सवार रहेंगे, तो फिर हम सीख क्या सकते हैं, पत्थर ! श्रद्धा तो ज्ञान की नींव है। इसीपर ज्ञान की इमारत खड़ी की जाती है।

परन्तु भेद है श्रद्धा और दासता में । पैगम्बरवाद और गुरुडमवाद अन्धविश्वास सिखलाते हैं, पागल बनाते हैं और अपने सम्प्रदाय का क्रीत दास बनाते हैं। श्रद्धा होती है विवेक के साथ; जब भक्ति विवेक के साथ की जाए तो उसका नाम श्रद्धा है, पर

जब वही भक्ति अंधविश्वास के साथ हो तो उसे दासता कहते हैं। इसलिए हमारा पक्ष यह है कि हिन्दू धर्म ज्ञानमार्गी है, अन्ध-भक्तिमार्गी नहीं; हिन्दू धर्म श्रद्धावादी है, दासतावादी नहीं। श्रद्धा सात्त्विक गुण है। वह आत्मा को ऊपर उठाता है, उसे उन्नत पथ दिखलाता है और उसके दैवी गुणों का विकास करता है। इसके विपरीत अन्धभक्ति तमोगुणी वृत्ति है, यह दासता की जड़ है, यह विकास की शत्रु है। हिन्दू धर्म माता-पिता, गुरु-आचार्य और वयोवृद्ध विद्वानों के प्रति विवेकपूर्ण भक्ति सिखलाता है और यह कहता है—"यदि तुम्हारा किसी विद्वान् से मत न मिले, तो भी तुम्हें श्रद्धा भाव से उसके गुणों को ग्रहण करना चाहिए।" हम हैं हंस, काग नहीं; हमें दूध लेना है और पानी को छोड़ देना है। हम संसार में झगड़ा करने के लिए नहीं आए, हम तो ज्ञान-संचय करने के लिए आए हैं; हम दूसरों के किसी सिद्धांत का, किसी पैगम्बर का, किसी आचार्य अथवा गुरु का क्रीत दास बनने के लिए नहीं आए; हम तो लोगों को भ्रमर बनना सिखलाते हैं, जो पुष्पों का रस लेता है। जब हम यह कहते हैं कि हिन्दू धर्म श्रद्धावादी है, दासतावादी नहीं, तो हमारा अभिप्राय यह है कि जितने भी पैगम्बरवादी, मसीहावादी, गुरुओं के अन्धभक्त, आगाखां के चेले, राधास्वामी सम्प्रदाय के ज्ञानशून्य भक्त, अथवा सम्प्रदाय में बंधे हुए वे लोग जो अपने पथप्रदर्शक के सिवाय सबों को तुच्छ समझते हैं, जिन्होंने सत्यज्ञान का ठेका ले लिया है, ऐसे सब लोगों ने श्रद्धा का मार्ग छोड़कर दासता का पथ ग्रहण कर लिया है, उन्होंने प्राचीन आर्यों का मार्ग छोड़ दिया है और यहूदी संस्कृति का रास्ता पकड़ लिया है, ये करोड़ों लोग दास हैं, इन्होंने अपने विकास को बन्द कर दिया है। जो दास होते हैं, उनमें सोचने की बुद्धि नहीं होती। यदि उन्हें कहा जाए कि मस्जिद के सामने बाजा बजाने वालों को मारो, तो वे हिंसक

पशुओं की तरह दौड़ेंगे और पालतू कुत्ते की भांति काट खाएंगे। इसी दासता के कारण संसार में आज हाहाकार मचा हुआ है। करोड़ों आदमी अपनी बुद्धि को खोकर दूसरो के गुलाम बने हुए हैं और उनका इशारा पाते ही अपने विरोधी का गला काटने के लिए उद्यत हो जाते हैं। हिन्दू धर्म इस प्रकार की अंधभक्ति का शत्रु है। हिन्दुओं में भी यहूदी संस्कृति के प्रभाव से ऐसे मतमतान्तर खड़े हो गए हैं कि वे अपने धर्माचार्यों के गुलाम हैं। वे उनका जूठा खा लेंगे, उनकी धोवन पी लेंगे। उनकी प्रत्येक बुरी से बुरी बात को भी शिरोधार्य कर लेंगे। हम ऐसे हिन्दुओं को पथभ्रष्ट हिन्दू कहते हैं। उन्होंने अपने पूर्वजों द्वारा निर्दिष्ट स्वाधीनता का मार्ग छोड़कर दासता की विषैली पद्धति को अपना लिया है।

इस विषय में ध्यान देने योग्य एक और महत्त्वपूर्ण बात है। जब से हिन्दू संगठन की प्रगति ने हिन्दुओं में ज़ोर पकड़ा है, तब से कुछ हिन्दू नेता मुसलमानों के मज़हबी संगठन को श्रेष्टतर समझकर उसे अपने समाज के लिए अनुकरणीय वस्तु बतलाने लग गए हैं। कहते हैं कि हिन्दुओं में भी ऐसी ही दासता की मनोवृत्ति आ जानी चाहिए जिससे कि हिन्दू जनता भी आंखें बन्द कर नेताओं के पीछे पागल हो जाए। वे बराबर मुसलमानों की अन्धभक्ति की तारीफ करते हुए हिन्दुओं को वैसा बनने का उपदेश देते हैं। यहां पर प्रश्न यह उठता है कि क्या श्रद्धावान् पुरुष अधिक विश्वासपात्र है अथवा अंधभक्ति करने वाला? हमारा निवेदन यह है कि हिन्दू धर्म के संस्थापक उन्हीं साधनों के लिए समाज को उपयोगी समझते थे जो विकास के पथ में सहायक सिद्ध हों। विवेकपूर्ण श्रद्धा आत्मा का उत्थान करती है, वह व्यक्ति में भला-बुरा पहचानने की शक्ति भरती है, वह उसे चिन्तनशील बनाती है और उसमें आत्मनिर्भरता भरती है,

इसके विपरीत आंखें मूंदकर दूसरों के पीछे चलने की आदत किसी दिन उपयोगी भले ही सिद्ध हो जाए, परन्तु उसमें खतरा ही रहता है। जैसे मस्जिद में लगी हुई ईंटें, जहां दीवार में लगकर उसकी शोभा बढ़ाती हैं—दीवार को सुदृढ़ बनाती हैं—वैसे ही वे दूसरों का सिर फोड़ने में भी सहायक बन सकती हैं। हिन्दू धर्म यह सिखलाता है कि मनुष्य ईंट-पत्थरों की तरह दूसरों को इस्तेमाल करने की वस्तु न रहे, बल्कि वह मननशील होकर प्रत्येक कार्य को करे। इसी कारण सिद्धान्त-रूप में हिन्दू धर्म व्यक्तिवादी है, लेकिन व्यवहार में वह है समष्टिवादी। आप श्रद्धा से मतभेद रखते हुए अपने बड़ों के सामने स्वतन्त्रतापूर्वक अपने विचार कहें लेकिन जब पंचायत मिलकर एक बात का फैसला कर दे तो समष्टि के साथ चलना व्यक्ति का कर्तव्य हो जाएगा। यहां पर उदाहरण देकर हम इस विषय को और भी स्पष्ट करते हैं।

सन् 1934 में जब मैं जर्मनी गया तो मुझे इस प्रकार का एक अनुभव मिला। अगस्त के महीने में मैं बर्लिन से कोलोन जा रहा था। रास्ते में मेरी मुलाकात मठ में रहने वाले एक रोमन कैथोलिक पादरी से हो गई। उसका मठ कोलोन के पास ही है। उसने आग्रहपूर्वक मुझे मठ में आने का निमन्त्रण दिया। अवसर मिलने पर मैं सैर के लिए निकला। रास्ते में मैंने उससे कहा—

"यदि आपको बाइबल की किसी बात से अश्रद्धा उत्पन्न हो जाए अथवा वह बुद्धि के विरुद्ध मालूम हो तो क्या आप उसे छोड़ने को तैयार हैं?"

उन्होंने उत्तर दिया—"ऐसा हो ही नहीं सकता। यदि ऐसा हो तो हम अपनी बुद्धि को ही दोष देंगे, बाइबल को नहीं।"

इसपर मैंने फिर कहा—"यदि आपके मठाधीश की कोई बात आपको अनुचित जान पड़े, अव्यावहारिक हो, उसे करना ठीक न जंचे, तो भी क्या आप उसका पालन करेंगे?"

वे झट बोल उठे—"हां, अवश्य करेंगे। हमारी बुद्धि अपने वयोवृद्ध मठाधीश के सामने कुछ हकीकत नहीं रखती।"

ऐसी ही मनोवृत्ति रोमन कैथोलिक ईसाइयों, मुसलमानों और बोलशेविकों की है। इन लोगों ने श्रद्धा का गलत रूप समझ लिया है; वे मस्तिष्क की दासता को श्रद्धा मानने लग गए हैं। हिन्दू धर्म इसका विरोधी है। हिन्दू धर्म कहता है। प्रत्येक व्यक्ति में स्वयं सोचने की आदत आनी चाहिए, लेकिन साथ ही उसमें सामाजिक ज़िम्मेदारियों के लिए बलिदान करने की भावना भी आनी आवश्यक है। एक तरफ तो विवेक का दरवाज़ा खुला रहे, ताकि आत्मा को आगे बढ़ाने की गुंजाइश हो; दूसरी ओर कर्तव्य-पालनार्थ पंचायती आदेश भी मानना ज़रूरी है ताकि मनुष्य में विनय और नियमानुशासन की आदत हो—वह अहंभाव में पड़कर खाली शुष्क तर्कवादी ही न बन जाए। पूर्ण श्रद्धा रखने वाला व्यक्ति मतभेद रखने पर दूसरों के साथ प्रेम से गुज़ारा कर सकता है, किन्तु अन्धभक्तिरूपी दासता में पड़ा हुआ ईसाई, मुसलमान अथवा बोलशेविक मतभेद रखनेवाले अपने विरोधी का जीना कठिन बना देता है, और यह समझता है कि उसके उसूल ही सच्चे और कुदरती हैं। वह हिंसक पशु की तरह किसी प्रकार के ज़ुल्म से भय नहीं खाता। हिन्दू धर्म इस प्रकार के पागलपन का सर्वथा विरोधी है। आज स्पेन में ऐसी दासता के कारण सर्वनाश हो रहा है।

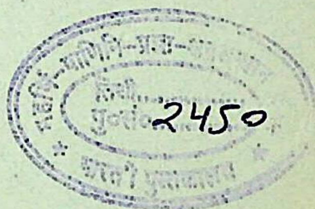
अतएव हिन्दू धर्म की इस विशेषता का महत्त्व हमारे पाठकों को भली प्रकार से समझ लेना चाहिए। हमारी प्रगति ऊपर की ओर होनी चाहिए। प्रगति-पग आगे बढ़े। वह हमारी मानसिक और आत्मिक उन्नति का कारण हो। यदि हम अपनी मनोवृत्ति द्वारा जंगली जानवर बनकर चीरने-फाड़ने वाले बन जाएं, तो ऐसी विचारधारा पर लाख बार धिक्कार है। इसलिए हमने यह

बात स्पष्ट तौर से कही थी कि हिन्दू धर्म एक स्वाभाविक पद्धति है, इसकी मनोवृत्ति प्राकृतिक है, इसका परिणाम आध्यात्मिक है। दूसरे मतमतान्तर तथा बोलशेविक मनोवृत्ति भयंकर परिस्थितियों की उपज हैं। इसी कारण उनमें अस्वाभाविकता है। कुछ वर्षों के बाद ये मिटमिटा जाएंगी अथवा उनकी उपयोगिता नष्ट हो जाएगी, किन्तु हिन्दू धर्म समुद्र की तरह गम्भीर है। इसके गर्भ में अनुपम मोती और लाल भरे हुए हैं। इसमें सब विचारधाराओं के लिए स्थान है—ऐसे विचारों के लिए नहीं जो मनुष्य को मनुष्य का शत्रु बनाएं। दासता से बढ़कर कोई पाप नहीं और उसपर मस्तिष्क की दासता तो सबसे बुरी है।

अन्त में हमारी उस परमपिता परमात्मा से यही प्रार्थना है कि हमारी यह पुस्तक युवक और युवतियों के हृदयों में हिन्दू धर्म के प्रति श्रद्धा उत्पन्न करनेवाली बने, प्राचीन आर्य धर्म का गौरव देश-विदेश के विद्वानों को मालूम हो, और इस पुस्तक की लाखों प्रतियां घर-घर फैलकर सुन्दर धार्मिक वातावरण पैदा करें।

○ ○ ○

मुद्रक : शिक्षा भारती प्रेस, शाहदरा, दिल्ली-32


2450

प्रेरणात्मक साहित्य

आत्म-विकास ७·००

(आनन्दकुमार)

संक्षेप में, यह जीवन-सम्बन्धी एक छोटा-सा 'विश्वकोश' है।

चरित्र-निर्माण ५·००

(आनन्दकुमार)

मनोवैज्ञानिक उपायों द्वारा चरित्र-निर्माण के लिए परमोपयोगी पुस्तक है।

साधना ३·००

(रवीन्द्रनाथ ठाकुर)

जीवन के सत्य-शिव-सुन्दर स्वरूप को जानने के लिए 'साधना' पढ़ें।

मनुष्य का विराट् रूप ६·००

(आनन्दकुमार)

जीवन-स्तर को ऊंचा उठानेवाली एकमात्र पुस्तक।

सफल जीवन ३·००

(सत्यकाम विद्यालंकार)

सफलता की दिशा में आगे बढ़ने की प्रेरणा दिलानेवाले उत्साहवर्द्धक निबन्ध।

सफलता के सूत्र ४·००

(सत्यकाम विद्यालंकार)

जीवन में सफलता छोटे-छोटे क्षणों और छोटे-बड़े कामों को जोड़कर आगे बढ़ने से मिलती है। इनकी उपयोगिता का रहस्य ही इस पुस्तक में बताया गया है।

राजपाल एण्ड सन्ज़, कश्मीरी गेट, दिल्ली